छिन्नो मे संसओ इमो

जैन धर्म एवं स्थानकवासी परम्परा में उभरते प्रश्नों का
आगमसम्मत-तर्कसंगत-सटीक समाधान

समाधानकर्त्ता

बहुश्रुत गुरुदेव श्री जय मुनि जी म.सा.

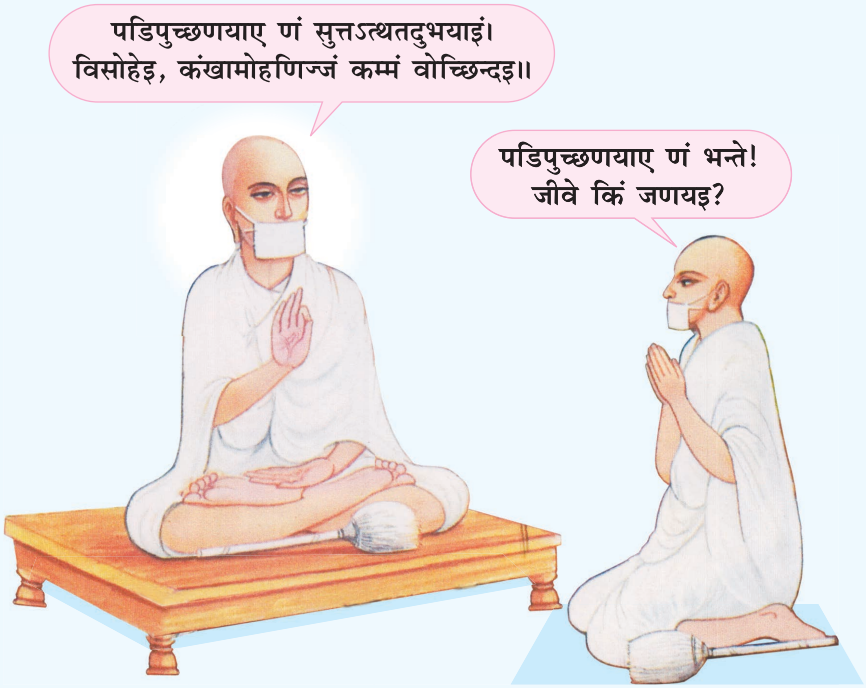

प्रश्न : हे भंते! प्रतिपृच्छना से जीव को क्या प्राप्त होता है?
उत्तर : प्रतिपृच्छना से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय (दोनों) को विशुद्ध कर लेता है तथा कांक्षा-मोहनीय को विछिन्न कर देता है।

श्री महावीराय नमः

श्री सुदर्शन गुरवे नमः

छिन्नो मे संसओ इमो

जैन धर्म एवं स्थानकवासी परम्परा में उभरते प्रश्नों का
आगमसम्मत-तर्कसंगत-सटीक समाधान

समाधानकर्त्ता

बहुश्रुत गुरुदेव श्री जय मुनि जी म.सा.

प्रस्तुत कृति :
छिन्नो मे संसओ इमो

मंगल आशीर्वाद :
गणाधीश गुरुदेव श्री प्रकाश चन्द जी महाराज
संघ संचालक गुरुदेव श्री नरेश चन्द्र जी महाराज

समाधानकर्त्ता :
बहुश्रुत गुरुदेव श्री जय मुनि जी महाराज

प्रश्नकर्त्ता एवं संयोजक :
पुनीत मुनि

प्रथम संस्करण 2023

© सर्वाधिकार प्रकाशक

प्रकाशन/प्राप्ति स्थान :
रवीन्द्र जैन
जय जिनशासन प्रकाशन
212, वीर अपार्टमैन्ट्स, सैक्टर-13
रोहिणी-दिल्ली-110085
Mob. : +91-98102-87446
E-mail : jaijinshaasanprakaashan@gmail.com

सुरेन्द्र कुमार जैन (पबाना)
126-127, पॉकेट-H, सैक्टर-3
रोहिणी-दिल्ली-110085
Mob. : +91-98731-74345

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं, प्रकाशन की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश की, फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलैक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुन: प्रयोग की किसी भी प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में पुनरूत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

विषयानुक्रमणिका

- ✤ समर्पण ... 4
- ✤ प्रकाशकीय ... 5
- ✤ पुरोवाक् ... 6

1. महामंत्र नवकार ... 11
2. सामायिक एवं प्रतिक्रमण ... 27
3. श्रावक-चर्या ... 35
4. साधु-साध्वी समाचारी ... 51
5. सचित्त-अचित्त एवं ग्राह्य-अग्राह्य ... 93
6. तप के विभिन्न प्रकार ... 111
7. आगम समीक्षा ... 119
8. जैन पर्व ... 135
9. जैन धर्म के चार सम्प्रदाय ... 141
10. संलेखना एवं संथारा ... 153
11. विविध जिज्ञासाएँ ... 161

समर्पण

जिन्होंने अपने जीवन का कण-कण और
हर-क्षण आत्मसाधना, संयम आराधना
और जैन शासन एवं स्थानकवासी
परम्परा के उत्थान में अर्पित कर दिया,
ऐसे महामहिम, शताब्दी
महापुरुष-संघशास्ता, शासन-प्रभावक
गुरुदेव **श्री सुदर्शन लाल जी म०सा०**
के अदृश्य पाणिपद्मों में समर्पित है
प्रस्तुत कृति!

प्रकाशकीय

गुरु सुदर्शन जन्म शताब्दी वर्ष अनेक धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों सहित सुसम्पन्न हुआ। अनेक तरह का साहित्य प्रकाशित हुआ। इसी क्रम में बहुश्रुत गुरुदेव श्री जय मुनि जी म० की पावन प्रज्ञा से निसृत समाधानों को श्री पुनीत मुनि जी म० ने प्रस्तुत कृति के रूप में संगृहीत व संयोजित किया, वे बधाई के पात्र हैं।

गणाधीश गुरुदेव श्री प्रकाश चन्द्र जी म० की पावन कृपा दृष्टि एवं संघ संचालक गुरुदेव श्री नरेश चन्द्र जी म० के निर्देश से हमें ये श्रुतसेवा का मौका मिल रहा है जिसकी हमें अति प्रसन्नता है। प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत प्रश्नोत्तर अनेक श्रद्धासिक्त, जिज्ञासु व्यक्तियों के लिए अतीव लाभप्रद रहेंगे। भ्रम ग्रन्थियों के विमोचन एवं सही समझ के निर्माण में निमित्त बनेंगे। लेखक का प्रयास रहा है कि प्रश्नों का समाधान आगम सम्मत, तर्क संगत एवं श्रद्धापोषक हो, फिर भी सिद्धांतविरुद्ध या कुछ अन्यथा लिखा गया हो तो 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'। प्रस्तुत पुस्तक के निर्माण में डॉ० राजेश सेठी सहित हर उस व्यक्ति के हम आभारी हैं जिनका प्रत्यक्ष-परोक्ष किंचित् भी सहयोग रहा है।

गुरु सुदर्शन संघ में समाजोपयोगी-जीवनोपयोगी साहित्य सृजन होता रहे, नव-नूतन प्रतिभाएँ अपना आलोक बिखेरती रहें तथा हमारे 'जय जिनशासन प्रकाशन' को साहित्य प्रकाशन का सुन्दर अवसर मिलता रहे, इन्हीं मंगल भावनाओं सहित।

रवीन्द्र जैन
जय जिनशासन प्रकाशन

पुरोवाक्

पुनीत मुनि

विभिन्न धर्म परम्पराओं का उद्भव मानव जीवन की मूलभूत समस्याओं के निवारणार्थ हुआ, परन्तु वही धर्म परम्पराएँ धीरे-धीरे स्वयं ही समस्याओं की जननी बन गईं और जैन धर्म भी इसका अपवाद नहीं रहा। अनेकान्तवाद जैसे अद्भुत सिद्धान्त के होते हुए भी जैन धर्म 4 शाखाओं और अनेक उपशाखाओं में विभाजित हो गया और वो क्रम अब भी अनवरत जारी है। यदि परस्पर समन्वय और सौहार्द हो तो अनेक शाखाएँ, उपशाखाएँ धर्मवृक्ष के विकास का ही प्रतीक हैं, परन्तु यदि वैमनस्य को जन्म देती है तो ये भिन्न-भिन्न क्रियाएँ, प्ररूपणाएँ, मानसिकताएँ धर्मक्षेत्र में आने वाले सरल हृदय मानस को ऊहापोह से भर देती हैं। यदि उस समय किसी प्रज्ञा पुरुष, प्रकाश पुंज महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त हो जाये तो मार्ग प्रशस्त हो जाता है, नहीं तो व्यक्ति दिग्भ्रमित बना इतस्तत: ठोकरें खाता रहता है। ऐसे भ्रमग्रस्त परन्तु श्रद्धासिक्त, जिज्ञासु मानवों के भ्रम शमनार्थ, शंका निवारणार्थ प्रज्ञा पुंज, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, आदर्श साधक, बहुश्रुत गुरुदेव श्री जय मुनि जी म०सा० दीर्घ लेख लिखते रहे हैं। गुरुदेव का गहरा आगमीय ज्ञान, मौलिक चिन्तन, सत्यग्राही बुद्धि, मध्यस्थ प्रज्ञा, अध्यात्मपूर्ण चेतना जटिल से जटिल विषयों को सरल, सुगम बना हस्तामलकवत् प्रस्तुत कर देती है। उनके द्वारा लिखे आगमीय, तर्कपूर्ण, सिद्धान्त-सम्मत, व्यावहारिकतापूर्ण सुदीर्घ लेखों को भारत की विभिन्न स्थानकवासी परम्पराओं, अनेक विद्वत्जनों एवं स्वाध्यायशील श्रावक-श्राविकाओं द्वारा विशेष समादर मिला है।

सन् 2013 में मैंने बहुश्रुत गुरुदेव से निवेदन किया कि हे गुरुदेव! आप श्री जी ने अनेक विषयों पर सुदीर्घ लेख लिखे हैं, परन्तु अभी सैकड़ों विषय आपकी मंगलमयी लेखनी का स्पर्श पाने को आतुर है; अत: समसामयिक विषयों पर प्रश्नोत्तर शैली में कृपा करें। उन्होंने फरमाया—आप प्रश्न लिख दो—मैं उत्तर लिखने का प्रयास करूँगा। मेरे 60-65 प्रश्नों को गुरुदेव ने

उत्तरित किया—जो अनेक तत्त्वज्ञ श्रावक-श्राविकाओं के लिए विशेष लाभप्रद रहे। गतवर्ष बहुश्रुत गुरुदेव एवं संघ संचालक गुरुदेव के समवेत निर्देश से प्रश्नावली को व्यवस्थित करने की भावना बनी। कार्य धीमी गति से चलता रहा और गुरु सुदर्शन जन्म शताब्दी वर्ष पूरा होते-होते कार्य ने गति पकड़ ली। काफी नूतन प्रश्न बहुश्रुत गुरुदेव के चरणों में प्रेषित किये। प्रश्न-प्रतिप्रश्न का क्रम पूर्ण सन्तुष्टि तलक चलता रहा, वे अति व्यस्तता में भी कृपा करते रहे और लगभग 165 प्रश्नोत्तर संगृहीत एवं व्यवस्थित हो गये। कुछ गुरुदेव के बृहद् लेखों को प्रश्नोत्तर में परिवर्तित किया।

पं० रत्न श्री दिनेश मुनि जी म० के सौम्य सुझाव एवं प्रबुद्ध श्री वीरेन्द्र मुनि जी म० की प्रेरणाएँ विशेषतापूर्ण रही। तत्त्व चिन्तन श्रावक श्री कमल जी (मेरठ) एवं युवा श्री अभिषेक जी (पानीपत) की टिप्पणियाँ अतीव उपादेय रहीं।

गुरु सुदर्शन संघ के वरिष्ठ संत तपस्वीराज, गणाधीश गुरुदेव श्री प्रकाश चन्द्र जी म० की कृपापूर्ण दृष्टि से एवं संघ के नियंता, संघ संचालक गुरुदेव श्री नरेश चन्द्र जी म० के निर्देश व मार्गदर्शन से हर संघीय कार्य पूर्णता पाता है। संघ संचालक गुरुदेव की विचक्षण-विलक्षण दृष्टि ने पुस्तक को निहारा तथा आवश्यक संशोधन कृपा की। त्याग शिरोमणि राजर्षि गुरुदेव श्री राजेन्द्र मुनि जी म० के प्रोत्साहन, समर्थन एवं सुझावों ने मेरे कार्य को सहज और सरल बना दिया तथा प्रस्तुत कृति का नामकरण **'छिन्नो मे संसओ इमो'** भी राजर्षि गुरुदेव की ही देन है। जहाँ उन्होंने पुस्तक का नामकरण किया वहीं **'नमो ते संसयातीत'** कहकर बहुश्रुत गुरुदेव की स्तुति भी की।

आर्य जम्बू की जिज्ञासा एवं आचार्य सुधर्मा की उदारता ने 11 अंगों का सृजन किया। प्रभु वीर एवं गौतम स्वामी के 36 हजार प्रश्नोत्तरों से भगवती सूत्र रूप बृहद् ज्ञान कोष प्राप्त हुआ। युद्ध के मैदान में संशयग्रस्त अर्जुन के मन को श्री कृष्ण के आध्यात्मिक उद्बोधन व परस्पर संवाद ने विश्वग्रन्थ भगवद्गीता दिया। उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित केशी गौतम संवाद जैन

इतिहास की बेजोड़ घटना है। गौतम स्वामी के समाधानों से समाहित-पार्श्वापत्य श्री केशी श्रमण उनकी स्तुति करते हैं—

साहु गोयम पन्नाते-छिन्नो में संसओ इमो।
नमो ते संसयातीत-सव्वसुत्त महोदही॥

अर्थात् संशयातीत, सर्वश्रुत महोदधि गौतम को नमन हो, जिन्होंने मेरे सर्व संशय छिन्न-भिन्न कर दिये हैं। अत: प्रस्तुत कृति का नाम **'छिन्नो मे संसओ इमो'** पूर्णत: सार्थकता लिये हुए है।

मेरा पुस्तक संयोजन का पहला ही अनुभव है। अत: त्रुटियाँ होना अस्वाभाविक नहीं, हितैषी पाठकों के सुझावों एवं त्रुटियों पर अंगुलि निर्देशों का सादर स्वागत है एवं भविष्य में संशोधन का भाव रहेगा।

गुरु सुदर्शन जन्म शताब्दी वर्ष में प्रस्तुत पुस्तक के निर्माण का निर्देश एवं अधिकांश कार्य हुआ। अत: उन्हीं अनन्य गुरुदेव के अदृश्य पाणिपद्मों में प्रस्तुत कृति समर्पित हैं। पुस्तक निर्माण में डॉ० राजेश सेठी एवं उनकी समस्त टीम का सहयोग बेजोड़ रहा।

पुस्तक के संयोजन में प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोगी हर व्यक्ति साधुवाद का पात्र है। 'जय जिनशासन प्रकाशन' संघीय साहित्य के प्रकाशन हेतु सदा ही कटिबद्ध रहता है, जो इनकी कार्यनिष्ठा, गुरु-श्रद्धा एवं उत्साह का द्योतक है।

ये सम्यक् समाधानों का संग्रह अनेक संशयों को छिन्न-भिन्न करने में निमित्त बनेगा—ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है, परन्तु संभव तभी होगा जब पाठक अनाग्रही हों; पूर्व-धारणों से ग्रसित न हों, असाम्प्रदायिक व उदार-चेता हों, सम्यक् दृष्टि एवं जिज्ञासु हों, इसी मंगल मनीषा सहित.....

सुज्ञेषु किं बहुना

महामंत्र नवकार

नमो अरिहंताणं,
नमो सिद्धाणं,
नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं,
नमो लोए सव्व साहूणं।
एसोपंचनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

1. महामंत्र नवकार

प्रश्न 1 : क्या नवकार मंत्र को 'मंत्र' कहना अनुचित है?

उत्तर- जैन धर्म के सब संप्रदायों की एकता का मूल आधार महामंत्र नवकार है। भले ही आगम ग्रंथों की प्रामाणिकता, उनकी संख्या, आचार पद्धति, पूजा उपासना की विधि, वंदना, प्रार्थना आदि की प्रक्रिया के विषय में जैन समाज भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से सोचता व बोलता रहा है, पर इन सब भिन्नताओं के बावजूद नवकार मंत्र की एकरूपता पर सभी सहमत रहे हैं। पिछले कुछ समय से नवकार मंत्र के संदर्भ में भी कुछ व्यक्तियों तथा कुछ संप्रदायों द्वारा भिन्न-भिन्न धारणाएं देकर भ्रांतियाँ फैलाई जा रही हैं। उन्हीं में से एक भ्रांति है कि नवकार मंत्र को 'सूत्र' ही कहना चाहिए, इसे 'मंत्र' कहना अनुचित है, अशास्त्रीय है; जबकि सच्चाई यह है कि 'नवकार मंत्र' व 'नवकार सूत्र' दोनों ही सही हैं। मंत्र का अर्थ है- **'मननात् त्रायते'** अर्थात् जिसका मनन विघ्नों से, भयों से रक्षा करे, वह मंत्र है **''सूचनात् सूत्रम्''** अर्थात् जो गहन गम्भीर अर्थ को सूचित करता है, वह सूत्र है। उपर्युक्त अर्थों के आधार पर आगम / शास्त्र का प्रत्येक शब्द मंत्र भी है और सूत्र भी है, क्योंकि भगवान की वाणी का प्रत्येक शब्द अपने आप में गंभीर अर्थ (भाव) समेटे हुए है और वह दु:खमय संसार से मुक्त करने वाला भी है।[1]

प्रश्न 2 : क्या 'सूत्र' शब्द आध्यात्मिक व 'मंत्र' शब्द लौकिक है?

उत्तर- यह मात्र कपोल कल्पना है, दोनों शब्द अध्यात्म व संसार से जुड़े हुए हैं, जैसे कि हिन्दुओं के प्रमुख मंत्र 'गायत्री मंत्र' में प्रभु से ईश्वरीय तेज के आधान तथा बुद्धि के प्रकर्ष की प्रार्थना की गई है, जबकि वात्स्यायन

लिखित 'कामसूत्र' में मैथुन सम्बन्धी अश्लील मुद्राओं का सांगोपांग विवेचन किया है। इन बातों से कोई यह भी निर्णय कर सकता है कि नवकार को मंत्र ही कहना चाहिए, सूत्र तो कदापि नहीं कहना चाहिए। पर यह धारणा भी वैसे ही अधूरी कहलाएगी जैसे की प्रश्नगतधारणा; क्योंकि इसके विपरीत भी अनेक उदाहरण है जहां 'सूत्र' शब्द का आध्यात्मिक और 'मंत्र' शब्द का लौकिक अर्थ में उपयोग हुआ है अत: नवकार मंत्र को मंत्र कहो या सूत्र कहो, दोनों ही ठीक है।

मंत्र शब्द तो अनुचित नहीं है, किन्तु किसी को 'मंत्र' शब्द से आपत्ति हो तो वह अनुचित जरूर है; क्योंकि उववाई सूत्र आदि अनेक आगमों में भी मुनियों के लिए प्रयुक्त विशेषणों में से एक विशेषण है **'मंतपहाणा'** मंत्रप्रधान अर्थात् मुनि मंत्रों के भण्डार होते हैं। हजारों सालों से पूज्य आचार्य भगवन्तों ने भी **'नास्ति नमस्कार-समो मंत्र:'** कहकर नवकार को मंत्र के रूप में मान्यता दी और स्थापना की है।

प्रश्न 3 : नवकार मंत्र का प्रथम पद 'नमो अरिहन्ताणं' है या 'नमो अरहन्ताणं'?

उत्तर- नवकार मंत्र प्राकृत भाषा में लिखा गया है। प्राकृत भाषा का सर्वमान्य व्याकरण आचार्य हेमचन्द्र जी ने लिखा है। उस व्याकरण का एक सूत्र है- **'उच्चार्हति'** अर्थात् 'अर्हत्' शब्द अगर प्राकृत भाषा में लिखना हो तो तीन तरह से लिख सकते है—1. अरिहन्त 2. अरहन्त 3. अरुहन्त। पूर्वाचार्यों ने भी विभिन्न प्रसंगों पर बिना किसी हठाग्रह के तीनों ही शब्दों का यथारुचि प्रयोग किया है। हालाँकि सबसे ज्यादा प्रयोग अरिहन्त शब्द का हुआ, उससे कम 'अरहन्त' व उससे भी कम 'अरुहन्त' शब्द का हुआ। तीनों शब्दों का आकार कुछ भिन्न है, पर मूल अर्थ समान ही है अर्थात् जो नरेन्द्र, सुरेन्द्र, असुरेन्द्र द्वारा कृत पूजा के अधिकारी हैं तथा चार घाति कर्मों का क्षय होने से अवश्यंभावी मुक्ति के अधिकारी हैं, वे अर्हत् होते हैं।

आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज तथा आचार्य श्री घासीलाल जी महाराज आदि ने आवश्यक सूत्र में 'अरिहन्त' रूप को ही स्वीकार किया है। पूज्य पंडित श्री समर्थमल जी महाराज के प्रश्नोत्तर की प्राचीन प्रतियाँ ''समर्थ समाधान भाग-2, प्रश्न-1488'' में अरिहंत शब्द का ही प्रयोग किया गया है। पर बाद में अरहंत शब्द का आग्रह किस चिंतन के तहत उभरा, यह शोध का विषय है।

हाँ, मूल अर्थ एक होते हुए भी शब्दों के आधार पर आचार्यों ने तीनों शब्दों के अलग-अलग अर्थ भी दिए हैं और आगम-सम्मत होने से उन्हें मान्यता भी मिली है।

1. अरहंत = जो पूजनीय हो। 2. अरिहन्त = रागद्वेष रूपी भाव शत्रु का हनन करने वाले, चार घाती कर्मों को नष्ट करने वाले। 3. अरुहन्त = राग-द्वेष रूपी कर्म बीज नष्ट होने से पुनः संसार में जन्म नहीं लेने वाले।

प्रश्न 4 : कुछ लोगों का कहना है कि 'अरिहंत' शब्द से अरिहनन/शत्रुवध की गंध आती है, जो कि जैन धर्म के अहिंसा भाव के अनुकूल नहीं है; अतः अरिहंत शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्या यह ठीक है?

उत्तर- यहाँ शत्रुवध किसी देव, मनुष्य या तिर्यंच के वध को सूचित नहीं करता, अपितु रागद्वेष आदि आंतरिक दुर्भावों की समाप्ति ही यहाँ अभिप्रेत है। यही वे दुर्भाव हैं जो मनुष्य या तिर्यंचादि के वध की प्रेरणा देते हैं। जैन धर्म क्षत्रियों का धर्म रहा है; अतः इस धर्म के लिये आगमों में क्षत्रियोचित शब्द और उपमाएं प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। स्वयं 'जैन' शब्द 'जिन' शब्द से बना है। हम अपने तीर्थंकरों को जिन इसलिए कहते हैं; क्योंकि वे रागद्वेष के आत्यन्तिक जेता (रागद्वेष जीतने वाले), समूल नाशकर्ता (नष्ट करने वाले) होते हैं। अब यहाँ 'जीतने' शब्द को लेकर भी कोई अनावश्यक खींचना चाहे तो खींच सकता है। जैसे कि इसमें हराने की मानसिकता पैदा होती है व हराने में अहं पुष्टि का भाव पैदा होता है। पर आगमों में तो ऐसे

शब्द जगह-जगह सुशोभित हो रहे हैं, किस-किस शब्द को कहाँ तक छीलते रहोगे।

तीर्थंकरों की दीक्षा के समय देव और मनुष्य शुभकामना करते हैं,

निहणाहि कम्मसतुं, हण परिसह चमुं।
अजियं जिणाहि जिय-मज्झे वसाहि॥

(आप कर्म शत्रुओं का हनन करो, परिषहों की सेना को कुचल डालो, नहीं जीते हुए शत्रुओं को जीतो और जीते हुओं के बीच में रहो)। श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र के नवम अध्याय में आत्मयुद्ध जीतने का बड़ा भव्य वर्णन है। इसी आगम के 23वें अध्ययन में भी आत्मशत्रुओं को जीतने की बात कही है।

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्व-सत्तू जिणामहं॥

केवल शब्द को पकड़कर बैठने वालों को इस 'अरि' शब्द से दिक्कत हो सकती है, नहीं तो अरिहनन के भावार्थ को सभी व्यक्ति समझते हैं, संभवत: वे भी जो 'अरिहन्त' शब्द का विरोध करके जैन समाज की एकता को खण्डित करना चाहते हैं।

प्रश्न 5 : नवकार मंत्र में 'नमो' शुद्ध है या 'णमो'?

उत्तर- आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण ही इसका प्रामाणिक निर्णय कर सकता है। उनका एक सूत्र है **'वादौ'** अर्थात् यदि शब्द के शुरू में 'न' हो तो उसे 'ण' भी लिखा जा सकता है और 'न' भी अर्थात् 'नमो' भी ठीक है और 'णमो' भी।

मंत्रशास्त्र में ट-वर्ग की ध्वनियों का उच्चारण प्रभावपूर्ण माना जाता है अत: न की बजाय ण का प्रयोग भी हो सकता है। हाँ, यदि मुख सुख या भाषा माधुर्य, सौन्दर्य की दृष्टि से देखा जाए, तो मूर्धन्य व्यंजनों से दन्त्य व्यंजनों को प्राथमिकता दी जाती है अर्थात् 'ण' से 'न' अधिक उपयुक्त है। लेकिन गलत कोई भी नहीं है, किसी के भी प्रयोग का विरोध अनुचित है।

प्रश्न 6 : महामन्त्र नवकार की चूलिका में नमोकारो, नमुक्कारो, नमोक्कारों तीनों शब्द देखने में आते हैं–तीनों में से कौन-सा शुद्ध है?

उत्तर– नवकार मन्त्र की चूलिका में प्रयुक्त नमोकारो, नमुक्कारो, नमोक्कारों तीनों शब्द ही शुद्ध हैं, फिर भी 'नमोक्कारो' का प्रचलन अधिक है। प्राकृत व्याकरण के **''नमस्कार परस्परे द्वितीयस्य''** (1.62) सूत्र से 'अ' को 'ओ' किया गया है। इस सूत्र के विधान की पालना भी इसी शब्द में अधिक हो रही है, परन्तु तीनों में से किसी का भी प्रयोग गलत नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न 7 : संस्कृत तथा प्राकृत में अनुस्वार का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर– संस्कृत तथा प्राकृत, दोनों का भिन्न-भिन्न व्याकरण है, किंतु उच्चारण विधि समान है। हिन्दी-प्राकृत-संस्कृत भाषा की एक विशेषता है कि जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है; जैसे— अंग्रेजी के Knowledge शब्द को लेते हैं, 'K' न पढ़कर 'N' पढ़ा जाता है। ऐसा भारतीय भाषाओं के साथ नहीं है। अनुस्वार के उच्चारण की चर्चा में सर्वप्रथम मध्य के अनुस्वार की बात करते हैं; क्योंकि यह निर्विवाद है। मध्य का अनुस्वार अग्रिम वर्ण के वर्ग के अंतिम अक्षर के रूप में उच्चारित होता है। जैसे- बंभचेर में अनुस्वार के बाद 'भ' वर्ण है, वह 'प' वर्ग का वर्ण है, 'प' वर्ग का अंतिम अक्षर 'म' है तो उच्चारण होगा - बम्भचेर (म् के रूप में)। 'वंदामि' शब्द लो, 'द' वर्ण 'त' वर्ग का है जिसका अंतिम अक्षर है 'न'; अत: उच्चारण 'न' के रूप में वन्दामि होगा।

अब प्रश्न है पद के अंत के अनुस्वार को लेकर। इसके उत्तर में आपको दो धारणाएं सुनने को मिलेंगी - (1) पदान्त के अनुस्वार को 'म्' उच्चारण देना है (2) संस्कृत में 'म्' बोलना है, प्राकृत में 'ङ्', जबकि दोनों ही अयुक्त हैं। संस्कृत हो या प्राकृत, दोनों भाषाओं में अन्त के अनुस्वार का नासिका में (ङ्ग) उच्चारण करना है; क्योंकि अनुस्वार का उच्चारण स्थल नासिका ही होता है। यह बात पूज्य गुरुवर्य भगवन् श्री रामप्रसाद जी म. ने

कृपा की थी, हमारा तो शायद इस ओर ध्यान भी ना जाता। संस्कृत का एक सूत्र है- **मोऽनुस्वारः** जो बताता है कि पदान्त का अनुस्वार कैसे बना? आगे व्यंजन हो तो पूर्व के 'म्' का अनुस्वार हो जाता है- यह इस सूत्र का अर्थ है। जैसे—'वीरम् वंदे' को लो, म् के बाद व्यंजन होने से यह 'वीरं वंदे' बन गया। अब विचार करें कि यदि 'वीरं' के अनुस्वार को 'म्' का उच्चारण देना होता तो 'म्' को अनुस्वार में बदलते ही क्यों? इस अनुस्वार को 'म्' का उच्चारण देकर 'मोऽनुस्वारः' सूत्र ही निरर्थक हो जाता है। हालांकि 'म्' का उच्चारण करने से अर्थ परिवर्तन नहीं होता, किंतु उच्चारण की शुद्धि नासिका में उच्चारण करने से है। कई परंपराओं में अधिकतर 'म्' के उच्चारण का आग्रह चल रहा है, किंतु उनके पास न कोई तर्क है, न प्रमाण। उपरोक्त प्रमाण से ज्ञात होने पर भी वे 'म्' के उच्चारण हेतु ही डटे हुए हैं, पर इसका इतना लाभ जरूर हुआ है कि 'ङ्' उच्चारण को आज गलत ठहराना बंद कर दिया है।

अनुस्वार का उच्चारण स्थान नासिका है, भले ही फिर हम अभ्यासवश कुछ भी बोलें। बिल्कुल सही बोलना चाहें तो नासिका के माध्यम से ही बोलें, होठों का स्पर्श न करें, चाहे मंगलं हो चाहे अजियं हो या अन्य कोई शब्द हो। केवल प्राकृत के शब्दों की बात नहीं, संस्कृत के शब्दों में भी हम अभ्यासवश अनुस्वार का उच्चारण ओष्ठ के साथ करते रहे हैं। प्रयास करने से ही बचाव हो सकता है। शुद्ध तो उच्चारण शास्त्र के अनुसार यही है। बाकी जनप्रवाह जो कह दे, वही जनतान्त्रिक सिद्धांत है।

प्रश्न 8 : पाँच पदों में गणधर कौन-से पद में आते हैं?

उत्तर- गणधर यद्यपि गणों की देखभाल करते हैं और तीर्थंकरों के उपदेशों को सूत्रबद्ध करते हैं, इस अपेक्षा से वे आचार्य और उपाध्याय कहलाने के हकदार हैं लेकिन तीर्थंकर के सामने कोई भी संघ का प्रशासक तथा प्रवक्ता नहीं होता। सर्वतंत्र स्वतंत्र तीर्थंकर भगवंत ही होते हैं; अतः उनके सान्निध्य में गणधरों को साधु कोटि में ही रखा जाता है।

भगवान महावीर के संबंध में ही गौतम स्वामी के उद्‌गार हैं- **''मम धम्मायरिए धम्मोवएसए''** मेरे धर्माचार्य, मेरे धर्मोपदेशक श्रमण भगवान महावीर श्रीवन उद्यान में विराजमान हैं। इन वाक्यों से ज्ञात होता है कि अरिहंत भगवंत ही आचार्य और उपाध्याय का दायित्व निभाते थे, शेष मुनिराज 'साधु' मात्र थे। श्री सुधर्मा स्वामी भगवान महावीर के बाद प्रथम आचार्य कहलाए तथा श्री गौतम स्वामी अरिहंत कहलाए, परन्तु भगवान के सामने दोनों मात्र साधु ही थे।

प्रश्न 9 : कुछ सम्प्रदाय केवली को पांचवें पद में मानते हैं, क्या यह सही है?

उत्तर- वैसे प्रथम पद में तीर्थंकर और सामान्य केवली दोनों ही आ जाते हैं, पर कहीं-कहीं सामान्य केवली को पांचवें पद में रखा जाता है। अरिहंत के 12 गुणों का नाम लेकर तथा 8 महाप्रातिहार्य सामान्य केवली के नहीं होते। वैसे गुणों की यह व्यवस्था (समायोजन) मौलिक और ठोस नहीं है। उदाहरण के तौर पर उपाध्याय के 25 गुणों में 12 उपांगों का ज्ञान लिखा है। 12 उपांग तो लिखे ही बाद में गए हैं, ये कोई शाश्वत तो होते ही नहीं; अतः 108 गुणों का समायोजन (Adjustment) बाद में किया गया है।

दूसरी बात, 'लोए' शब्द की व्याख्या करते-करते केवलियों को पांचवें पद में स्थापित कर दिया। वैसे तो कहीं-कहीं आगमों में भी ऐसे संकेत मिल जाते हैं कि तीर्थंकरों के लिए ही अरिहन्त शब्द प्रयुक्त होता है, पर आगमों में ऐसे भी स्थान हैं जिनसे अरिहंत में सामान्य केवली भी गिने जाना सिद्ध होता है। अतः यही ठीक लगता है कि अरिहंत शब्द से तीर्थंकर तथा सामान्य केवली दोनों ही घातिकर्मों के नाशकर्त्ता सभी जीवों का बोध हो। अब रही बात अरिहंतों के 12 गुणों की, संभवतः जिन आचार्यों की धारणा प्रथम पद में मात्र तीर्थंकरों के ग्रहण की रही होगी, उन्होंने इन 12 गुणों की व्यवस्था जमाई होगी। ये 12 गुण मात्र तीर्थंकरों के हैं, जैन तत्व प्रकाश,

जिणधम्मो आदि ग्रंथों में अन्य प्रकार से भी 12 गुण वर्णित हैं जो कि मात्र तीर्थंकरों के ही सूचक हैं किंतु उववाई सूत्र के आधार पर प्राचीन ग्रंथों में अरिहंत के 12 गुण उल्लिखित मिलते हैं जो कि तीर्थंकर तथा सामान्य केवली दोनों पर चरितार्थ होते हैं तथा संगत व मौलिक भी हैं। वे 12 गुण इस प्रकार हैं - 1. अनास्रव, 2. अमम, 3. अकिंचन, 4. क्षीणशोक (अथवा क्षीण स्रोत), 5. निरूपलेप, 6. व्यपगत प्रेम-राग-द्वेष-मोह, 7. निर्ग्रंथ प्रवचन के उपदेष्टा, 8. धर्मशासन के नायक, 9. अनंत ज्ञान, 10. अनंत दर्शन, 11. अनंत चारित्र, 12. अनंत बलवीर्ययुक्त। अतः नवकार मंत्र के पहले पद में तीर्थंकर व सामान्य केवली दोनों को मानना ही ठीक है।

प्रश्न 10 : भगवान महावीर के निर्वाण के बाद प्रथम गणधर गौतम को केवलज्ञान हो गया तो उन्हें आचार्य क्यों नहीं बनाया गया? केवली आचार्य क्यों नहीं हो सकते?

उत्तर- केवली को आचार्य पद नहीं दिया जाता, पर आचार्य केवली बन जाए तो आचार्यत्व से हटाया भी नहीं जाता, ऐसी धारणा तो है, पर आगम में ऐसा प्रतिपादन नहीं है। गौतम-सुधर्मा जी को लेकर ये विचारधारा चली। इस विषय में एक धारणा ये भी है कि सुधर्मा जी का आयुष्य गौतम जी से ज्यादा बचा हुआ था; अतः उन्हें आचार्य बनाया। पर मेरा मन्तव्य रहा है कि गौतम जी प्रारंभ से ही ज्ञान, शिक्षण, स्वाध्याय का दायित्व संभालते रहे तथा सुधर्मा जी प्रारंभ से अनुशासन का संचालन करते रहे, एक को उपाध्यायत्व का प्रशिक्षण (Training) मिला, दूसरे को आचार्यत्व का। ग्यारह गणधरों के गृहस्थ काल में जो शिष्य थे, वे उनके जीवित रहते हुए उन्हीं के शिष्य कहलाए। नौ गणधरों के निर्वाण के बाद उनके शिष्य सुधर्मा जी के अधीनस्थ रहे। उनके अलावा जितने मुनि दीक्षित होते, उनकी प्रशासनिक सार-संभाल श्री सुधर्मा स्वामी के हाथों में थी; अतः भगवान के समय ही तय था कि आचार्यत्व का भार सुधर्मा जी ही वहन करेंगे, गौतम

जी नहीं। इस विषय में एक धारणा यह भी है कि जो जिसके पाट पर बैठता है, वह उसका प्रतिनिधि होता है, आचार्य शास्त्र वाचना के समय ''मैंने भगवान से ऐसा सुना है'' इस प्रकार कहते हैं जबकि केवली तो प्रत्यक्ष देखता है वह तो यही कहेगा कि ऐसा है या मैं ऐसा देखता हूँ; अतः वह प्रतिनिधि नहीं हो सकता। चूँकि केवली स्वयं भगवान तुल्य होता है अतः वह भगवान का प्रतिनिधि नहीं, स्वयं भगवान है। इसलिए शायद उन्हें आचार्य नहीं बनाया जाता, परन्तु आचार्य बनने के बाद केवल ज्ञान हो जाए तो पद से उतारना भी आशातना समझी जाती है; अतः वे ही continue करते रहते हैं। हो सकता है कि उनका पद राष्ट्रपति की तरह केवल ornamental (शोभा के लिए) रह जाता है, तथा वास्तविक प्रशासन के लिए प्रधानमंत्री की तरह किसी और वरिष्ठ योग्य साधु की नियुक्ति कर दी जाती होगी।

प्रश्न 11 : साध्वी आचार्य-उपाध्याय पद की अधिकारिणी क्यों नहीं है?

उत्तर- साध्वी समाज के लिए पदों की चर्चा एक नया विषय है। जैन इतिहास में संघ की सारी व्यवस्था साधुओं के हाथ में होती थी; जैसे—घर, परिवार, समाज, राष्ट्र में अधिकांश पुरुषों के हाथ में होती है। अन्य धर्मों में तो उसे अध्ययन और संन्यास का मौका भी नहीं दिया। बौद्धों ने दिया भी तो बड़ी शृंखलाएं बांध दीं। पर जैन धर्म में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। केवल प्रशासन की जिम्मेदारी साधुओं के हाथ में रही। साध्वियों की आंतरिक सारणा-वारणा-धारणा का दायित्व प्रवर्तिनी गुरुणी के पास रहा। आज के अत्याधुनिक जनतंत्रीय महिला समर्थक वातावरण में भी जहां-जहां जैन सभाएँ हैं, उनकी कार्यकारिणी में पुरुष ही होते हैं। महिला मण्डल एक अलग व्यवस्था है। कोई सभ्य पुरुष नहीं चाहता कि हमारी माँ, बहन, बेटी कुर्सी के झगड़ों में पड़े। चाहे कन्याओं का स्कूल हो, पर management पुरुषों के हाथ में ही होता है। अमेरिका जैसे विकसित देश में 400 साल की

आजादी के बाद भी एक भी महिला President नहीं बनीं। भले ही उम्मीदवार बन चुकी हैं। दूसरी बात आचार्य-उपाध्याय को कुछ साधना विशेष के लिए कुछ दिनों के लिए अकेले रहना पड़ता था जो साध्वियों के लिए निषिद्ध रहा। गुजरात के कई संप्रदायों में साध्वियाँ केवल बहनों के बीच में ही प्रवचन कर सकती हैं, मिश्रित परिषद् में नहीं। कितनी-कितनी पाबन्दियाँ हैं, फिर आचार्य- उपाध्याय पद की कल्पना कहां की जा सकती है? वैसे इस सारे मामले में धार्मिकता-अधार्मिकता, क्षमता-अक्षमता का Role नहीं है, केवल सामाजिक व्यवस्था ही कारण रही है।

प्रश्न 12 : नवकार मंत्र शास्त्रीय पाठ है, उसे आगे पीछे या उल्टा पढ़ने से या अक्षरों को ही उल्टा करके पढ़ने से (णं हु सा) क्या आगम की आशातना है?

उत्तर- किसी भी शास्त्रीय पाठ की आशातना तब मानी जानी चाहिए जब उच्चारणकर्त्ता उपेक्षा भाव से, प्रमाद से या संकल्पपूर्वक अविनय से पाठ को अशुद्ध या आगे-पीछे बोल रहा हो। जब उच्चारणकर्ता किसी अच्छे लक्ष्य से पाठ का व्यतिक्रम कर रहा हो तो आशातना नहीं मानी जाती है। आनुपूर्वी में नवकार मंत्र 120 प्रकार से बोला जाता है, एक बार को छोड़कर 119 बार तो क्रम भंग होता ही है। हालाँकि आनुपूर्वी पढ़ने वाले का ध्येय है कि मन एकाग्र हो जाए, उस उत्तम भावना के कारण पद व्यत्यय आशातना नहीं है अर्थात् उच्च भावना से किया गया अक्षर-वर्ण व्यत्यय भी आशातना नहीं है। प्राचीन युग में पाठ की शुद्धि के लिए शास्त्रों को कई विधियों से याद किया जाता था, चितारा जाता था, एक विधि तो सीधे क्रम वाली थी, दूसरी उल्टे क्रम वाली भी थी। किसी विधि में श्लोक का प्रथम अक्षर ही याद किया जाता था, किसी में अंतिम और प्रथम। वेदों के विषय में तो पाठ शुद्धि का अत्यंत आग्रह था और इसी शुद्धि की सुरक्षा के लिए उन्होंने हजारों विधियां विकसित कीं। इनमें से एक विधि 'जटा पाठ' की थी, इस विधि में जैसे ऋषि की जटाएं उलझी हुई होती हैं, ऐसे ही वे पाठों को

उलझाकर भी स्मृतिगत रखते थे। जैन धर्म में तो अर्थ की महत्ता ज्यादा रही है, शब्द की कम; क्योंकि अर्थ तीर्थंकरों का है, शब्द गणधरों के। अर्थ से भाव जाग्रत होते हैं, मात्र शब्द से नहीं। अर्थज्ञान के अभाव में आर्य स्थूलिभद्र 14 पूर्वी नहीं कहला सके; अत: किसी ऊँचे ध्येय से 'णं हु सा' आदि उल्टे क्रम से किया गया उच्चारण आशातना या दोष नहीं है। शब्द अक्षर व्यत्यय के पीछे ध्येय स्पष्ट होना चाहिए, भावना शुद्ध होनी चाहिए। हकलाने या तुतलाने वाला साधक पाठोच्चारण करते समय पूर्ण शुद्धि नहीं रख सकता तो भी अविनय नहीं है। 'ताणं-ताणं सेठ वचन प्रमाणं' के दृष्टांत भी हमारे ग्रंथों में उपलब्ध हैं, वहां भावों पर बल दिया है।

प्रश्न 13 : नवकार मंत्र में ऊं ह्रीं श्रीं आदि शब्द जोड़ना या ''अ सि आ उ सा नम:'' रूप में प्रस्तुत करना क्या हीनाक्षर, अत्यक्षर दोष है?

उत्तर- नवकार मंत्र में ऊं ह्रीं आदि जोड़ने से नवकार मंत्र की महिमा की प्रभावकता नहीं बढ़ती, न ही यह उचित है, परन्तु कुछ आर्त्तध्यानग्रस्त मनों को ढाढ़स देने के उद्देश्य से किसी एक पद के पूर्व ऐसे बीजाक्षर जोड़ भी दिए जाएँ तो आशातना नहीं है; क्योंकि उन्हें हम नवकार मंत्र नहीं कहते अपितु सिद्धिदायक मंत्र कहते हैं और मानते हैं। 'अ सि आ उ सा नम:' शब्दों का प्रयोग आगमिक शैली है। पुराने आचार्य आगमों की गाथाओं के प्रथम अक्षर को याद करके पूरी गाथा को याद कर पाते थे। ये तो योजक शब्द (connecting words) थे, जिनमें आशातना का भाव नहीं है।

प्रश्न 14 : भगवान और गुरु के चित्र के स्थान पर नवकार मंत्र देना या पूजना क्या समान नहीं है?

उत्तर- चित्र स्थापना निक्षेप का रूप है, अक्षर द्रव्य निक्षेप का। एक अपेक्षा से दोनों समान हैं कि वे भाव रूप नहीं हैं, पर अन्य अपेक्षा से भिन्न हैं; क्योंकि द्रव्य निक्षेप स्वयं भाव रूप में परिवर्तित हो सकता है। राजा का पुत्र द्रव्य राजा है, राजा का चित्र स्थापना राजा है। द्रव्य राजा कल भाव राजा

बन सकेगा, जबकि स्थापना राजा कभी राजा नहीं बन सकेगा, केवल उसे संकेत दे सकेगा, जो राजा को पहले से जानता होगा। यही बात आगम अक्षरों तथा चित्रों के संबंध में जानी जा सकती है। इस तथ्य को स्थानकवासी परंपरा ने भरसक उजागर किया है; अत: नवकार मंत्र का फ्रेम लेना-देना चित्र लेने-देने के तुल्य तो नहीं है, पर पूजन-अर्चन करना स्थानकवासी परंपरा के सर्वथा विरुद्ध है। जहां भी पूजन प्रारंभ हुआ, वहीं मौलिक जैनत्व खण्डित हुआ। यह एक निर्भ्रान्त सत्य है।

प्रश्न 15 : अखंड जाप में प्रयुक्त होने वाली चौकी क्या जड़ पूजा नहीं, उसमें प्रयुक्त लौंग क्या अपनी परंपरा के अनुकूल है?

उत्तर- अखंड जाप, जागरण, विहारों में कलश यात्रा, स्थानकों में कलशारोहण आदि सैकड़ों कार्य ऐसे हैं जो हमने निकटवर्ती संघों-समाजों से लिए हैं, चूंकि इनमें अभी अधिक आडंबर या खर्च नही हैं, हिंसा, आरंभ-समारंभ भी नहीं है; अत: ये निषिद्ध भी नहीं हुए। 'जड़पूजा' शब्द का हमारे पुराने संतों ने काफी प्रयोग किया है, पर यह शब्द आगमिक नहीं है। समाज के स्तर पर कुछ भी कार्य होता है तो आलंबन तो देना ही पड़ेगा, प्रतीक बनाने पड़ेंगे, परन्तु ध्यान रहे अति से बचाव हो।

प्रश्न 16 : माला से आनुपूर्वी को अधिक महत्व क्यों दिया जाता है?

उत्तर- मूलत: तो माला में मन की एकाग्रता नहीं बन पाती और आनुपूर्वी में बन जाती है। मन की एकाग्रता बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसलिए माला की तुलना में आनुपूर्वी को अधिमान दिया गया। बाद में आनुपूर्वी को लोकेषणा के साथ जोड़ दिया गया। ये भावना भर दी कि आनुपूर्वी के जाप से लौकिक कामनाएं पूरी हो जाती है। इसके पीछे ये कारण भी रहा कि आनुपूर्वी की बनावट यन्त्रनुमा है और यंत्रों के प्रति भारतीय जनमानस पुराने समय से आस्थावान रहा है अन्यथा आनुपूर्वी भी नवकार मंत्र के जाप के समान ही प्रभावपूर्ण है।

प्रश्न 17 : नवकार मंत्र की प्राचीनता पर प्रकाश डालने की कृपा करें?

उत्तर– नवकार मंत्र द्वादशांग गणिपिटक का मुख्य भाग है तथा द्वादशांग के विषय में नंदी सूत्र में सादि, सान्त, अनादि, अनंत, ये 4 भंग घटित किए हैं, वे नवकार मंत्र पर भी लागू होंगे। महाविदेह एवं नो उत्सर्पिणी नो अवसर्पिणी की अपेक्षा से यह अनादि अनंत है। भरत ऐरावत क्षेत्र की अपेक्षा सादि सान्त है जो भाषा किसी भी तीर्थंकर ने कही है, उस अपेक्षा से सादि सान्त है पर भाव की दृष्टि से अनादि अनन्त है। इसी आधार पर हम यह निर्णय कर सकते हैं कि नवकार मंत्र के भाव तो शाश्वत हैं लेकिन जिन शब्दों का हम उच्चारण करते हैं, वे शब्द श्लोक किसी न किसी समय बने होंगे।

प्राकृत भाषा का जो स्वरूप वर्तमान नवकार मंत्र में है, वह प्राकृत भाषा भगवान महावीर से पूर्व की नहीं है। भगवती सूत्र एवं कल्प सूत्र के प्रारंभ में यह मंगलाचरण सूत्र दिया गया है। किसी ने नवकार मंत्र के रचयिता के रूप में श्री भद्रबाहु स्वामी का भी नामोल्लेख किया है, पर वह प्रामाणिक नहीं जान पड़ता। इसकी रचना तो गणधरों द्वारा किया जाना ठीक लगता है, 5 पदों के आगे जो चूलिका **''एसो पंच नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं''**।। भद्रबाहु स्वामीकृत है, सादि सान्त है। हालाँकि मंत्र भी केवल भाव दृष्टि से अनादि हैं, शब्द दृष्टि से नहीं।

❀ ❀ ❀

1. नवकार मंत्र विषयक बहुश्रुत गुरुदेव श्री जय मुनि जी म० का सुविस्तृत लेख 'नवकार मंत्र की एकरूपता को कायम रखिये' पठनीय है।

सामायिक एवं प्रतिक्रमण

2. सामायिक एवं प्रतिक्रमण

प्रश्न 1 : सामायिक के 8 पाठ प्राकृत के हैं तो 9वाँ हिन्दी में क्यों?

उत्तर- श्रावक प्रतिक्रमण में 12 व्रतों के ही अतिचार हिन्दी में प्रचलित हैं। जब वे प्रतिक्रमण में मान्यता प्राप्त कर चुके हैं तो सामायिक तो उससे लघु-प्रक्रिया है; अत: इसमें भी हिन्दी पाठ मान्य हो गया, शेष पाठों का भाषान्तर अनुवाद प्रतिक्रमण में चालू हो जाता तो सामायिक में भी लागू हो जाता। प्रारंभिक व्यक्ति को करेमि भंते और पारणे के पाठ से गुजारा करना होता है। एक पाठ ही याद करना उसे कठिन प्रतीत होता है, फिर अतिचार का प्राकृत पाठ स्मृतिस्थ करना और भारी पड़ता है; क्योंकि वो करेमि भंते के पाठ से बड़ा भी है, इसलिए पूर्व मुनियों ने प्रतिक्रमण से सरल पाठ निकाल कर श्रावकों को दे दिया और उससे संतुष्टि हो गई। भाववृद्धि की दृष्टि से सामान्य भाषा के पाठ उपयोगी होते हैं, जबकि संस्कृति और परंपरा की रक्षा के लिए मूल पाठों की उपयोगिता ज्यादा है। करेमि भंते और पारणे के हिंदी पाठ से दोनों की सुरक्षा है।

प्रश्न 2 : सामायिक का कालमान 48 मिनट ही क्यों?

उत्तर- जैन आगमों में समय, आवलिका, श्वासोच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त आदि काल के भेद हैं। इसमें लव का कालमान एक मिनट से भी कम है। इसके बाद मुहूर्त आता है जिसका कालमान 48 मिनट है, इन दोनों के बीच काल की ऐसी कोई इकाई नहीं है जो धर्माराधन के लिए उपयुक्त कालावधि हो। 5-10 मिनट की सामायिक होना न होना बराबर है; अत: पूर्वाचार्यों ने एक मुहूर्त की व्यवस्था को उपयुक्त समझकर लागू किया। दिन में 30 मुहूर्त होते हैं, उनमें से एक मुहूर्त का समय इस धर्मसाधना के लिए

निर्धारित किया गया। पुराने युग में वर्तमान परिप्रेक्ष्य जैसी 24 घंटों की व्यवस्था होती तो शायद सामायिक की अवधि 1 घंटा रखी जाती। दूसरा कारण ये भी हो सकता है कि आचार्य उमास्वाति कृत तत्वार्थ सूत्र में ध्यान का उत्कृष्ट काल एक मुहूर्त (48 मिनट) का मान्य किया गया है। **''उत्तम संहननस्यैकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानम्'' 'आमुहूर्तात्'**। सामायिक आराधना में ध्यान का अभ्यास किया जाये। मन को एकाग्र बनाया जाये। इस ध्येय को ध्यान में रखते हुए भी सामायिक का काल एक मुहूर्त रखा गया है।

प्रश्न 3 : आत्म-शोधन के समान लक्ष्य के लिए निर्मित श्रावक प्रतिक्रमण आज विभिन्नताओं का शिकार हो गया है और ये विभिन्नताएं कहीं-कहीं प्रतिक्रमण के मूल लक्ष्य (शांति) में बाधक बनी हैं, क्या किया जाये?

उत्तर- हम एकता व आगमिकता के पक्षपाती हैं। इसी आधार पर हमारी मान्यताएं निर्धारित हैं। आज श्रावक-प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र का समावेश, चौमासी, संवत्सरी पर दो प्रतिक्रमण की मान्यता, पक्खी चौमासी पर कायोत्सर्ग की संख्या को लेकर मतभेद है।

ऐसी स्थिति में उपर्युक्त विषयों पर संघ की दृष्टि प्रस्तुत करना उपयोगी प्रतीत हो रहा है।

1. श्रावकों के प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र का समावेश अनुचित है।

कारण- (i) श्रावक प्रतिक्रमण बहुत पुरानी व्यवस्था है और वह व्यवस्था 'श्रमणसूत्र' से रहित ही चलती आ रही है। बीच में कुछ संप्रदायों के श्रावकों ने 'श्रमण सूत्र' का पठन भी प्रारंभ किया, जिसका कोई ठोस कारण नजर नहीं आता। आगे चलकर सन् 1933 में अजमेर सम्मेलन के दौरान सभी संप्रदायों ने श्रावकों में एकरूपता स्थापित करने के लिए श्रमण सूत्र की परंपरा पर पाबंदी लगा दी थी।

(ii) श्रमण सूत्र साधु के लिए ही बना है; क्योंकि इसमें प्रयुक्त पाठ श्रावक के जीवन पर Fit ही नहीं बैठते।

(iii) 'श्रमण सूत्र' में प्रयुक्त 'श्रमण' शब्द से भी यही बात पुष्ट होती है कि यह श्रावकों के लिए नही, बल्कि साधुओं के लिए ही है।

2. तीन चातुर्मासियों तथा संवत्सरी पर भी शेष तिथियों की तरह एक ही प्रतिक्रमण करना चाहिए।

कारण– (i) दो प्रतिक्रमण आवश्यक मानने वाले संप्रदाय ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के पंचम अध्ययन 'शैलक' को आधार बनाते हैं। इस अध्ययन में वर्णित पंथक मुनि के दृष्टान्त (प्रसंग) के आधार पर विशेष तिथियों पर दो प्रतिक्रमण की परंपरा बना देना उचित नहीं है; क्योंकि पहली बात तो कथानुयोग आदेशात्मक नहीं होता। उसका तो सारांश ही ग्राह्य होता है, कथा का प्रत्येक अवयव नहीं। आगमों की कथाओं के यदि प्रत्येक अवयव ग्राह्य मानें तो कई तरह की व्यवस्थाएं लड़खड़ा जाएंगी।

(ii) मध्यवर्ती तीर्थंकर के शासन के साधु की चर्या को आधार बनाकर 24वें तीर्थंकर के साधुओं की चर्या का निर्धारण करना उचित नहीं है। दस कल्पों में प्रतिक्रमण कल्प मध्यवर्ती 22 तीर्थंकरों के शासन में तो होता ही नहीं। वे तो जब जरूरत समझते है प्रतिक्रमण कर लेते हैं, आवश्यकता महसूस नहीं होती तो नहीं करते। 24वें तीर्थंकर के साधुओं की तो अपनी स्वतंत्र व्यवस्था है।

(iii) प्रश्न हो सकता है कि केवल चौमासी व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने से दैवसिक दोषों का प्रतिक्रमण कैसे होगा? तो समाधान है कि जैसे पक्खी प्रतिक्रमण करने पर दैवसिक प्रतिक्रमण अलग से करने की जरूरत नहीं होती। पक्खी प्रतिक्रमण के पाठों से ही दैवसिक अतिचारों की शुद्धि हो जाती है, वैसे ही सांवत्सरिक व चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में भी हो जाएगी।

(iv) किसी समय दो प्रतिक्रमण की परंपरा भी चलती रही है यह ठीक है, फिर भी हमारे पूर्वजों ने एक प्रतिक्रमण की व्यवस्था को ही अधिक युक्तियुक्त व सार्वजनीन समझते हुए स्वीकार किया। अब पूर्वजों द्वारा स्वीकृत इस परंपरा के निर्वाह में ही समाज का हित है।

3. कायोत्सर्ग में पक्खी को 8 लोगस्स, चातुर्मासी पर 12 लोगस्स व संवत्सरी पर 20 लोगस्स का ध्यान करें।

जैन समाज का बहुसंख्यक वर्ग उपरोक्त व्यवस्थानुसार ही चलता है। कोई-कोई वर्ग ही पक्खी, चातुर्मासी व संवत्सरी पर 12-20-40 लोगस्स का ध्यान करता है।

उपर्युक्त दोनों ही व्यवस्थाओं के पीछे कोई आगमिक आधार नहीं है। आगम में कहीं भी संख्या का जिक्र नहीं है। फिर भी सामाजिक एकता की भावना को ध्यान में रखते हुए अजमेर सम्मेलन का प्रस्ताव स्वीकार्य है। जिसके अनुसार पक्खी, चातुर्मासी व संवत्सरी पर क्रमशः 8-12-20 लोगस्स के ध्यान का विधान है।[1]

प्रश्न 4 : श्रावक प्रतिक्रमण का अतीत में क्या स्वरूप था तथा व्रत ग्रहण के बिना श्रावक प्रतिक्रमण की क्या सार्थकता है?

उत्तर- भगवान महावीर के युग में तथा उसके बाद भी चार सौ-पांच सौ साल तक श्रावक प्रतिक्रमण नहीं बना था, ऐसा आगमों के विश्लेषण से झलकता है। उपासक दशांग सूत्र में श्रावक जीवन की विविध रूपरेखाएँ हैं, पर प्रतिक्रमण का उल्लेख नहीं है। भगवती में शंख, शतक आदि श्रावकों के वर्णन में प्रतिक्रमण नहीं है और तत्वार्थ सूत्र में इसका कोई जिक्र नहीं है। दिगम्बर परंपरा में श्रावक प्रतिक्रमण की परंपरा नहीं है; अतः प्रतीत होता है कि दिगम्बर श्वेताम्बर बंटवारे तक श्रावक प्रतिक्रमण अस्तित्व में नहीं आया था। आर्यरक्षित द्वारा रचित अनुयोगद्वार सूत्र में कुछ संकेत मिलता है कि श्रावक प्रतिक्रमण की आवश्यकता के लिए विचार प्रारंभ हो गया था।

मंदिरमार्गी समाज के प्रतिक्रमण अवलोकन से ज्ञात होता है कि मूर्ति पूजा, भक्ति उपासना तथा दोष आलोचना को संयुक्त करके श्रावक प्रतिक्रमण की रचना हुई और वह रचना भी समय-समय पर रूपांतरित, प्रवृद्धतर होती गई। स्थानकवासी संघ के पुनरुद्धार के बाद श्रावक प्रतिक्रमण का भी जीर्णोद्धार

हुआ। इसमें उपासकदशांग सूत्र के अतिचारों से काफी मदद मिली। कुछ साधु प्रतिक्रमण से उधारा लिया, कुछ स्थानीय, तत्कालीन भाषा का सहारा लिया और श्रावक प्रतिक्रमण बना दिया। हालाँकि इसमें बाद में भी परिवर्तन होता गया; दोहे, पंचपद, वन्दना आदि जुड़े। अब इसका कुछ-कुछ हिन्दीकरण भी होने लगा है।

आगमयुगीन न होने पर भी वर्तमानकालीन श्रावक प्रतिक्रमण एक उपयोगी ग्रंथ है जिससे किसी भी सद्गृहस्थ की आचार संहिता- code of conducts, Do's and Don'ts-विधि निषेध का स्पष्ट ज्ञान होता है। इसके पढ़ने से अव्रती को व्रत लेने की प्रेरणा मिलती है, व्रत न भी ले तो भी जीवन में कुछ सावधानियाँ अपनाने का विवेक जाग्रत होता है तथा गृहीत व्रत की दोष शुद्धि का आश्वासन मिलता है। यद्यपि उच्चारण मात्र से दोष-परिमार्जन नहीं होता, पर उच्चारण के दौरान भाव परिणति हो जाए तो कार्य सिद्ध हो सकता है। सम्यक् विधि के साथ करने से संस्कृति रक्षा भी होती है। यदि विधिपूर्वक न भी किया जाए तो भी भावपूर्वक पारायण होने मात्र से भी हृदय में विशुद्धि संभव है। यह ग्रंथ काफी पहलुओं से प्रायः सबके लिए उपयोगी है।

प्रश्न 5 : साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका के प्रातः-सायं के प्रतिक्रमण का समय क्या होना चाहिए?

उत्तर- साधु-साध्वी के दैनिक क्रम में प्रतिक्रमण एक आवश्यक कृत्य है। दिन के दोष निवारणार्थ सायंकाल, रात्रि दोषनिवारणार्थ प्रातःकाल का समय रखा गया है, परंतु दोनों ही प्रतिक्रमण रात्रि में ही होते हैं, सूर्य रहते हुए कोई नहीं। सूर्यास्त से पूर्व प्रतिलेखना, विहार, आहार आदि की क्रियाएं सम्पन्न करनी होती हैं; अतः दिन भर के दोषों का प्रतिक्रमण सूर्यास्त के बाद ही रखा है। कई प्रसंग आते हैं कि सूर्यास्त होते ही मुनि रुक गए, सूर्यास्त होते-होते आहार पानी निबटाया गया। **'अत्थंतम्मि य सूरम्मि आहारेइ अभिक्खणं'** ये मूल आगम की गाथा भी सूर्यास्त होने तक आहार का

उल्लेख कर रही है। प्रात:काल होने पर विहार आदि का क्रम जारी होने में बाधा न हो; अत: सूर्योदय से पूर्व प्रतिक्रमण निश्चित कर दिया। रात का समय चिन्तन, ध्यान के लिए वैसे भी उपयोगी है, जिसमें Disturbance भी नहीं होती।

समाचारी अध्ययन में साधु के प्रतिक्रमण का समय दिया गया है, श्रावक का नहीं। वस्तुत: तो श्रावक प्रतिक्रमण का आगमों में कहीं विधान ही नहीं है, पर जब आचार्यों ने इसे प्रचलित किया तो उसे भी प्रात:-सायं साधु प्रतिक्रमण की तरह नियत कालबद्ध कर दिया। ऐसा ही अनुयोगद्वार सूत्र की मूल गाथाओं में उल्लेख हुआ है, किंतु उपासकदशांग सूत्र एवं अन्य किसी आगम में श्रावक प्रतिक्रमण का जिक्र नहीं मिलता। हाँ, श्रावक प्रतिक्रमण बहुत उपयोगी कृत्य है, जो अनुयोगद्वार सूत्र एवं आचार्यों की पारंपरिक देन है। अत: श्रावक सूर्योदय व सूर्यास्त के आस-पास या 10-15 मिनट आगे-पीछे अपनी अनुकूलता के अनुसार प्रतिक्रमण कर लें।

❀ ❀ ❀

1. श्रावक प्रतिक्रमण विषयक बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित लेख 'श्रावक प्रतिक्रमण के संबंध में एक चिंतन' पठनीय है।

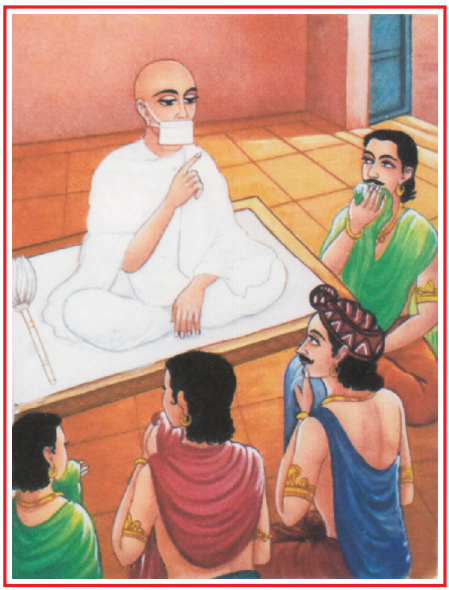

श्रावक-चर्या

3. श्रावक-चर्या

प्रश्न 1 : गुरु-वंदना बैठकर करना उचित है या उठ, बैठकर?

उत्तर- हमारे पास परम्परा से तिक्खुत्तो का पाठ वन्दना हेतु प्राप्त है, पर उसकी विधि नहीं। संभवत: विधि को शेष भारतीय समाज से गृहीत किया गया है। उस युग में सामान्य जनता अपने पूज्य पुरुषों के, पूजास्थानों के नमस्कार के समय जो विधि अपनाती थी, जैनों ने भी वही विधि अपनाई। हाथ घुमाना, पंचाग नमन आदि उन्हीं का अनुकरण प्रतीत होता है। जैनों में वन्दना के लिए दो पाठ प्रचलित हैं—**'इच्छामि खमासमणो'** तथा **'तिक्खुत्तो'**। इच्छामि खमासमणो एक विशेष उद्देश्य से, विशेष समय पर पढ़ा जाता है तथा उस पाठ में ही उसकी विधि का भी भरपूर संकेत है। जैसे कि 'निसीहि' शब्द है अर्थात् इससे अगले वाक्य का विषय बैठकर बोलें तथा आवस्सही आवश्यकतावश उठना है। लेकिन जो इच्छामि खमासमणो के अभ्यासी चिन्तक थे, उन्होंने 'तिक्खुत्तो' पर भी 'इच्छामि खमासमणो' लाद दिया और कुछ शब्दों को खड़े-खड़े बोलने लगे, शेष को बैठकर। **'इच्छामि खमासमणो'** में उठना, बैठना फिर उठना सकारण है, जबकि 'तिक्खुत्तो' में निष्कारण। कुछ विचारकों ने 'तिक्खुत्तो' के पाठ में 'वन्दामि' शब्द की दो आवृत्तियां देखकर ऐसी कल्पना कर ली है, लेकिन उन्हें ये ध्यान देना है कि 'वन्द्' धातु स्तुति और नमस्कार दो अर्थों की वाचक है। प्रथम 'वन्दामि' का अर्थ है—मैं स्तुति को उद्यत हूँ तथा द्वितीय 'वन्दामि' का अर्थ है—झुकने को उद्यत हूँ। उससे पूर्व 'मत्थएण' शब्द जोड़ कर स्पष्ट ही कर दिया है कि मस्तक झुकाकर नमन अंत में अभीष्ट है, मध्य में नहीं। छोटे-से पाठ में इतनी हलचल भावों की एकाग्रता को भंग

करती है; अत: वन्दना एक मुद्रा में ही करनी उचित है, चाहे खड़े-खड़े करो, चाहे बैठे-बैठे। हाँ यदि किसी संघ-संप्रदाय को अपनी परंपरा अधिक अच्छी लगती है तो कोई बुरा नहीं है, पर उन्हें ये अधिकार न दिया जाए कि अन्य परंपरा को त्रुटिपूर्ण बताएं तथा उसे हटवाकर अपनी परम्परा लागू करवाई जाए। पंजाब परम्परा की वंदना विधि (शुरू में ही घुटने नमा कर, तीन आवर्त वाली) पूर्णत: निर्दोष है, उसे बदलने की कोई जरूरत नहीं है। महिलाओं के द्वारा उठ-बैठकर वंदना करने में उन्हें बार-बार अपने वस्त्र संभालने में भी असुविधा होती है तथा प्रवचन के दौरान उठ-बैठकर की गई वंदना श्रोता व वक्ता दोनों के लिए दिक्कत का कारण बन जाती है; अत: हमारे उत्तर भारत (पंजाब परंपरा) में वर्षों से घुटने मोड़कर पंजों के बल बैठकर पंचाग वन्दना की विधि चल रही है जो कि सभ्यता, सुविधा और यतना की दृष्टि से सात्विक विधि है।

प्रश्न 2 : क्या श्रावक-श्राविका मुनि वर्ग को आहार आदि के लिए विनति करें तो निमंत्रण दोष लगता है?

उत्तर- श्रावक के 12वें व्रत अतिथि संविभाग में श्रावक-श्राविका यह भावना भाते हैं कि मैं महाव्रतियों को 14 प्रकार का तथा अन्यान्य पदार्थों का दान दूं। साधु-साध्वी निकट हों, तो प्रत्यक्ष विनति भी करते हैं तथा परोक्ष में हो तो भावना रखते हैं। श्रावक के लिए, निमंत्रण देना दोष नहीं है अपितु साधु के लिए निमंत्रण मानना दोष है। उसके लिए विनति न करना श्रद्धाहीनता का कारण और प्रमाण बनता है, साधु के लिए निमंत्रण मानना शिथिलता और असंयम का कारण बनता है। उपासकदशांगसूत्र में 'सद्दालपुत्र' ने भगवान महावीर से विनति की थी कि मेरी कुंभकारशाला में साधूपयोगी सामग्री उपलब्ध हैं, आप ग्रहण करें। उस समय भगवान महावीर मौन रहे तथा बाद में यथा अवसर उसकी कुंभकारशाला में स्वयं पधारे, उन्होंने उसे निषेध नहीं किया कि जैन मुनियों को इस तरह की विनति नहीं की जाती। कथा-साहित्य में पुन: पुन: उल्लेख किया जाता है कि

भगवान महावीर के साधना काल में जीर्ण श्रावक प्रतिदिन पारणे की विनति करने जाता था। इस धारणा से ये बात तो पुष्ट होती है कि विनति करने की परंपरा काफी प्राचीन है। श्रावक इतना विवेक रखता है कि वह मुनि के लिए औदेशिक भोजनादि का निर्माण नहीं करता। आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध, दूसरे उद्देशक में वर्णन है कि कोई गृहस्थ मुनि को ये कहे कि आपके लिए नाना प्रकार का आरंभ-समारंभ करके आहार या मकान तैयार करूंगा तो मुनि उसे निषेध कर दें कि मुझे ऐसा आहार या मकान ग्रहण करना नहीं कल्पता है। यदि वह मुनियों को बिना बताए ही उनके लिए आरंभ-सभारंभपूर्वक कोई चीज तैयार कर रहा हो, पर मुनि को ज्ञात हो जाए तो भी उसे वैसा करने से मना कर दें। पाठ से स्पष्ट होता है कि साधु निमंत्रण का निषेध नहीं करता, अपितु सोद्देश्य प्रवृत्ति का निषेध करता है।
भगवती सूत्र गोशालक अध्ययन में वर्णन है कि रेवती श्राविका ने भगवान महावीर के लिए औषधि बनाई थी। ये सूचित करता है कि सुप्रतिबुद्ध श्रावक-श्राविकाएं भगवान जिनकी दुहाई देते थे, जो तीर्थंकर नामगोत्र की अर्जिका थी वो भी निमित्त का आहार बनाती थी। उनके इस कार्य का समर्थन नहीं करते हुए भी ये तो मानना पड़ेगा कि भावनाओं पर किसी का अंकुश नहीं होता। यदि श्रावकों को विनति करने पर भी पाबंदी लगने लगी तो जैन समाज कठोर हृदय, निष्करुण, भावहीन लोगों का जमावड़ा हो जाएगा; अतः श्रावक-श्राविका आहार करने से पूर्व भावना रखें कि मैं खाने से पहले त्यागी मुनियों को आहार दूं।

प्रश्न 3 : सदोष आहार दान से अल्पायु या अशुभ दीर्घायु के बंध का उल्लेख आगमों में वर्णित है, उन पाठों का क्या आशय है?

उत्तर- साधु-साध्वी ही नहीं, किसी भी श्रमण ब्राह्मण को आहार दान की स्तुति आगमकारों ने प्रचुर मात्रा में की है। सुखविपाक सूत्र इसका उदाहरण प्रस्तुत करता है। दान के समय कुछ विवेक भी आगमकारों को अभीष्ट रहा है। 'तत्वार्थसूत्र' में लिखा है—**'विधिद्रव्यदातृपात्र विशेषात् तद्विशेषः'**

अर्थात् देने की विधि शुद्ध हो, दिया जाने वाला द्रव्य शुद्ध हो, दाता तथा लेने वाला शुद्ध हो तो दान की महत्ता बढ़ जाती है। सुखविपाक सूत्र में तीन शुद्धियों का वर्णन है। इस द्रव्यशुद्धि को ध्यान में रखते हुए भगवती का एक पाठ है कि तथारूप श्रमणब्राह्मण को अप्रासुक अनेषणीय भोजन देने से अल्पायु का बंध होता है। जो भोजन पका हुआ न हो, कच्चा हो, शरीर स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद हो, उम्र के धागे को तोड़ सके, ऐसा भोजन देने से, इरादतन या उपेक्षा भाव से देने से दाता अगली अपनी आयु को छोटा बांधता है। दान से आयु तो शुभ बंधती है, ज्यादा बंधती है पर इससे वह दाता जितनी दीर्घायु बांधनी चाहिए, उतनी नहीं बांध पाता अपितु उसमें अल्प बांधता है।

नागश्री ने आहार दान दिया, पर जीवन नाशकारक दिया; उसका दुष्परिणाम उसे भोगना पड़ा। इसी तरह दान देने वाला मान-सम्मानपूर्वक देने की बजाय अपमानपूर्वक देता है, उपेक्षा भाव से देता है तो दीर्घायु भी बांध लें तो अच्छी गति की नहीं बांधता। जैसे कथानक प्रचलित है कि सेठ सवा मन अनाज का दान अनादर भाव से देता है और पुत्रवधू एक पाव अन्न का भोजन आदरमान से देती है तो सेठ हाथी बनता है तथा पुत्रवधू राजकुमारी बनती है। दान के दो फल केवल विधि के कारण हुए हैं। यही बात आगमों में इस ढंग से कही गई है।

निमित्त से भोजन बनाना श्रावक का अतिचार नहीं है, ये मुनि का दोष है। गृहस्थ तो बड़े-बड़े दान सत्र चलाता है, सब कुछ सोद्देश्य बनाता है। उसे अशुभ फल नहीं मिलता। अशुभता तब बनती है जब दीयमान वस्तु हानिकारक हो या अविधि से दी गई हो।

प्रश्न 4 : क्या संघट्टे से युक्त बहन सन्तों के आने पर दरवाजा खोल सकती है? क्या अन्य को आहार बहराने हेतु बुला सकती है या आहार विषयक जानकारी दे सकती है?

उत्तर—दशवैकालिक आदि आगमों में आहार पानी लेते समय कुछ वर्जनीय दोषों का वर्णन मिलता है। जैसे पानी पर, आग पर, हरियाली पर

रखा भोजन साधु को लेना नहीं कल्पता, ऐसे ही पुष्प-फलादि को कुचलते हुए, तोड़ते हुए, कोई दाता आहारादि सामग्री दे तो साधु को इसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। इन दोषों को संक्षेप में संघट्टा शब्द दिया जाने लगा, धीरे-धीरे संघट्टे का दायरा काफी दीर्घतर किया जाने लगा। सावधानी की दृष्टि से कुछ संघट्टे टालने जरूरी भी हैं, परन्तु कभी-कभी संघट्टा टालना वहम और दाता के लिए हौवा भी बनने लगा है। दरवाजा खोलते समय तथा किसी को बुलाते समय संघट्टा युक्त भाई-बहन के द्वारा जीव हिंसा नहीं हो रही हो तो वर्जनीय नहीं है। यदि उस प्रक्रिया में विराधना हो रही है तो वर्जनीय है। ध्यान केवल जीव विराधना से बचने का रहे।

प्रश्न 5 : श्रावकों द्वारा केशलोच करवाना क्या आगमानुकूल और व्यवहार सम्मत है?

उत्तर- आगमकारों ने ज्ञान और चरित्र के लिए कुछ गुण और योग्यताएं निर्धारित की हैं, जो व्यक्ति उन योग्यताओं के बिना ही विशिष्ट ज्ञान और चारित्र का अनुष्ठान करता है, वह अपने लिए तथा संघ शासन के लिए विराधना का कारण बनता है। पूर्वों का ज्ञान, परिहार विशुद्धि चारित्र, एकलविहारप्रतिमा आदि अनेक अनुष्ठान विशिष्ट अर्हता वाले साधकों के लिए विहित किए गए हैं। यदि अयोग्य व्यक्ति इन्हें अपनाने का दु:साहस करता है तो वह दण्ड-प्रायश्चित का पात्र है तथा जो ऐसा करने वाले को सहारा देता है वह भी। इसी प्रकार केशलोच के विषय में भी आगमकारों का स्पष्ट उद्घोष है कि इस तपस्या का अधिकारी पञ्चमहाव्रतधारी साधक ही होता है। हाँ, केवल वही श्रावक जब वह बारह व्रतों का दीर्घकाल तक सविधि पालन करने के पश्चात श्रावकोचित ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना करता है तथा ग्यारहवीं प्रतिमा के पालनकाल में वह लोच करवा सकता है, उससे पूर्व नहीं। अन्य योग्यताओं को अर्जित किए बिना इतना बड़ा कदम दु:साहस की श्रेणी में आता है। एक सैनिक अपने पद के अनुसार ही अपनी वर्दी पर stars लगाता है। अपने पद से अधिक stars लगाना अपराध की श्रेणी में आता है। इसी तरह गृहस्थ द्वारा **'श्रमणभूत'** प्रतिमा से पूर्व किए गए लोच के विषय में समझना चाहिए। परन्तु यदि कोई व्यक्ति दीक्षा लेने

से पूर्व अभ्यास स्वरूप लोच करवाए तथा पूर्ण निवृत्ति में जी रहा श्रावक लोच करवाए तो स्वीकार्य हो सकता है।[1]

प्रश्न 6 : गृहस्थ के लिए सामायिक संवर आदि क्रियाएं उपयोगी हैं या जनसेवा परोपकार आदि के कार्य?

उत्तर- जीवन को कई भागों में बांटना खतरनाक है, इसे व्यक्तिगत या सार्वजनिक दो रूप नहीं दिए जा सकते। व्यक्ति स्वयं तो एक ही है, जिसे कभी दीवारों के भीतर जीना होता है कभी दीवारों के बाहर। उसे दोनों जगह पर आत्म विकास करना है, एकांत में बैठकर अपने आचार-विचार का निरीक्षण भी करना है तथा जनता के बीच जाकर परीक्षण भी करना है कि कितनी मात्रा में मेरी प्रगति हुई है। व्यापार-कारोबार, राग-द्वेष की आंधियों से मन संत्रस्त हो जाए, उस समय एकांत में बैठकर प्रभु भक्ति करें तो तनाव से बचाव हो जाता है तथा **'पावं कम्मं न बंधइ'** पापकर्म का बंध रुक जाता है। व्यापार, कारोबार से अर्जित धन दौलत को अपने अलावा दीन दु:खी के लिए व्यय करें, इससे **'सर्वभूतात्मभूत'** भावना बढ़ती है।

वर्तमान युग में अधिकतर व्यक्तियों की सामायिक संवर में मानसिक अस्थिरता को देखते हुए प्रतीत होता है कि उनका अधिकांश समय आर्तध्यान में कटता है, आत्म समाधि में कम; जबकि वही व्यक्ति जन सेवा आदि के किसी उपक्रम में सम्मिलित होते हैं तो उसकी प्राणऊर्जा पूर्णत: समर्पित हो जाती है तथा बाद में भी उन्हें अधिक संतुष्टियुक्त देखा जाता है। लोकोपकार के कार्य से आत्मा का तो भला होता ही है जिसका उपकार किया गया हो उस व्यक्ति के मन में उपकारी के धर्म के प्रति भी विशेष आकर्षण और आस्था बनती है। इस तरह शासन प्रभावना की दृष्टि से भी सेवा उत्तम उपाय है, इस विषय में आत्म तुला अधिक प्रामाणिक है। जब हम अस्वस्थ, रुग्ण या परेशान हों, उस समय अन्य व्यक्ति जो हमारी सेवा कर सकता है वह एकान्त में बैठकर माला करने लगे, उस समय हम उसे धार्मिक न मानकर पलायनवादी की संज्ञा देते हैं, ऐसे ही अन्य हमें भी देंगे।

लोकोपकार के कार्यों में बस विवेक ये रहे कि वह मान-सम्मान का मंच न बन जाए। प्रवृत्तिवाद में लोकैषणा नामैषणा का खतरा सर्वाधिक रहता

है। उससे बचाव हो जाए तो गृहस्थ के लिए ये परोपकार का, अहिंसा-दया का कार्य अति श्रेयस्कर है। हाँ, जो व्यक्ति भावों के स्तर पर आत्मचिंतन, प्रभु भक्ति, ध्यान, स्वाध्याय में गहन रमण करने की क्षमता रखते हैं, वे सामायिक संवर जैसी एकान्त में होने वाली क्रियाओं से महान निर्जरा कर लेते हैं तथा आत्म कल्याण के पथिक बन सकते हैं।

प्रश्न 7 : सूतक-पातक आदि की मान्यता तथा उनमें धर्म क्रियाओं का निषेध क्या उचित है?

उत्तर- प्रसूति और मृत्यु ये दो घटनाएँ गृहस्थ जीवन में महत्वपूर्ण अवसर होते थे, महत्वपूर्ण तो आज भी हैं पर पुरातन युग में ज्यादा महत्वपूर्ण थे- खुशी और गमों में सारा घर, सब रिश्तेदार, भाई-बंधु सम्मिलित होते थे। ये घटनाएं केवल परिवार तक ही नहीं, बड़े समाज तक पहुँच जाती थीं। उन अवसरों पर घरों में भीड़ लग जाती थी, आने वाले व्यक्तियों की सेवा-शुश्रूषा, आवभगत में कमी ना रहे, ये घर के हर आदमी का दायित्व होता था। उस दायित्व को छोड़कर यदि घर का कोई सदस्य धर्म क्रियाओं में संलग्न हो जाता तो सारी व्यवस्था चरमरा जाती। इस अव्यवस्था का निराकरण करने के लिए ये हिदायत दी गयी कि इन अवसरों पर धर्म कार्य से ज्यादा आपकी duty दूसरी है।

लोगों को और पाबंद करने के लिए ये भी विधान कर दिया कि सूतक-पातक में धर्म क्रियाएं वर्जित होती हैं। ये धर्मग्रंथों की आशातना है जो कि हानि कर सकती है, इस तरह के कथन से सब लोग संभल गए तथा धीरे-धीरे ये एक कुरीति और रूढ़ि बन गई। ब्राह्मणों ने इसे शुद्धि-अशुद्धि से जोड़ दिया। मंदिरों में प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया। मंदिरों की पवित्रता का मुद्दा आया तो जैनों की दोनों परंपराओं ने ब्राह्मणों का अनुकरण कर लिया। मंदिर प्रवेश के साथ स्वाध्याय, गुरुदर्शन, आहार-दान भी वर्जित हो गए। यह जैनत्व का मुख्य अंग न होते हुए भी मुख्य से भी अधिक मूल्यवान बन गया, फिर अस्वाध्याय की कुछ धाराओं ने उसे बल प्रदान कर दिया। धार्मिक जगत तो वैसे भी वर्जनाओं से शीघ्र प्रभावित होने वाला होता है, सूतक-पातक ने भी धार्मिक जगत को इस तरह प्रभावित कर दिया। परन्तु हमारी स्थानकवासी परम्परा में सूतक-पातक जैसी सैद्धांतिक

बाधाएं, धर्मध्यान, गुरुदर्शन, प्रवचनश्रवण, आदि विविध धर्मक्रियाओं हेतु नहीं है, व्यवहारिक बाधा हो तो व्यक्ति विवेक रखता ही है।

प्रश्न 8 : आगमों में 15 कर्मादानों का (श्रावकों द्वारा वर्जनीय व्यापार, कामधंधे) जिक्र है, उन वर्जनाओं का आधार क्या है और वर्तमान में उन 15 के अलावा किन्हें कर्मादानों में रख सकते हैं?

उत्तर—श्रावकों द्वारा छोड़ने योग्य 15 प्रकार के उद्योग और व्यवसायों को आगमों में 15 कर्मादान कहा है। कर्मादानों में केवल वही व्यवसाय परिगणित किये गये थे जिनमें बहुलता से मनुष्यों, पशुओं का दोहन-शोषण होता था, जिनमें सामाजिक सदाचार मर्यादाओं का विलोप होने का खतरा था। जैनत्व और श्रावकत्व का लेबल लगाने वाले धार्मिक व्यक्तियों से इतनी तो अपेक्षा की ही गई है कि वे इस तरह के धन्धे से तो किनारा करें ही, जिनमें पंचेन्द्रिय प्राणियों का जीवन नष्ट होता हो, साथ-ही-साथ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि त्रस जीव भी बहुत संख्या में मरते हों, ऐसे व्यवसाय श्रावक के लिये अस्वीकरणीय घोषित किये गये। एकेन्द्रिय जीवों की अल्प या अधिक हिंसा को ध्यान में रखकर कर्मादानों का विधान नहीं किया गया। श्रावकों की कोई भी व्यवस्था भगवान महावीर के युग में एकेन्द्रिय केन्द्रित नहीं रही। जिस धर्म को मानने वाले क्षत्रिय राजा, सार्थवाह श्रेष्ठी, सुसमृद्ध कृषक, विदेश व्यापारी वैश्य रहे हों—उनसे एकेन्द्रिय रक्षा की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? ये लोग अपनी गृहस्थ व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने तथा समाज में प्रतिष्ठित बनने के लिए बड़े-बड़े व्यापार करते थे, जिनमें एकेन्द्रिय हिंसा को टालना अशक्य था। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए श्रावक को एकेन्द्रिय हिंसा के त्याग के लिए बाध्य नहीं किया गया और इसलिए भगवान महावीर के श्रावकों का जीवन बिल्कुल सहज और जनसामान्य से जुड़ा रहा था। कई व्याख्याकारों ने खेती जैसे आर्यकर्म को भी कर्मादान में डाल दिया, जबकि प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव तो कृषि के प्रवर्तक माने जाते हैं और उपासकदशांग सूत्र में वर्णित भगवान महावीर के प्रमुख दस श्रावकों के वर्णन में 500 हल

प्रमाण सुविस्तृत खेती का जिक्र है और ऐसे बृहद् भूमि व पशुधन के स्वामी श्रावकों का आगम में प्रशस्तिगान है।

कर्मादान से मतलब वह व्यवसाय है जो मानवों पर अत्याचार, पशुओं पर जुल्म, पर्यावरण के विनाश, नैतिकता के ध्वंस पर टिके हुए थे, जैसे कि भट्ठों पर बंधुआ मजदूरों का शोषण था, जंगलों के कटान में Wild-life पक्षियों के घोंसलों का भीषण विनाश था, Mining आदि में मानवों के मरने के बेहद अधिक चांस थे। दन्तवाणिज्य में जंगली पशुओं का अवैध वध था, लाक्षाकेश वाणिज्य, निर्लाञ्छन आदि में त्रस प्राणियों तथा बड़े पशुओं के ऊपर बेइन्तहा जुल्म होते थे। तालाब सुखाने से पर्यावरण को खतरा था, असती जन पोषण से देह व्यापार को बढ़ावा मिलता था। कुछ इस तरह के पापकारी कार्य श्रावक न करें, इसलिए इन पर पाबन्दी लगाई गयी थी। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, इन एकेन्द्रिय जीवों को केन्द्र में रखकर इन व्यवसायों का निषेध नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है।

वर्तमान युग में जंगलों का अंधाधुंध कटान, भूमाफियों द्वारा जमीन का अवैध अधिग्रहण, लघु-बालिकाओं का विक्रय, विदेशों में भेजने के नाम पर ठगी-धोखाधड़ी, बूचड़खाने चलाना, जाली नोटों का धंधा, तालाबों की भराई, बड़ी ब्याज की दर पर रुपया देना, गबन-घोटाले, बैंकों का पैसा हड़पने की नीति आदि अनेक कारोबार कर्मादान के अन्तर्गत आने चाहिए।[2]

प्रश्न 9 : वर्तमान में श्रावक-श्राविकाओं द्वारा किया जाने वाला रात्रि संवर कितना उपयोगी है और रात्रि संवर का सही स्वरूप क्या होना चाहिए?

उत्तर—धर्मध्यान की विविध क्रियाएँ जीवन में निवृत्ति लाने के लिए प्रारम्भ की जाती हैं। कुछ समय तक कुछ व्यक्ति उनका पालन निष्ठा और शुद्धि के साथ करते हैं और धीरे-धीरे अन्य व्यक्ति या तो अंधानुकरण से या संत-सतियों की प्रेरणा या दबाव से उन क्रियाओं में संलग्न हो जाते हैं, इससे रसहीनता बनती है और क्रियाएँ भी विकृत होने लगती हैं। वर्तमान

समय में की जाने वाली रात्रि संवर क्रिया भी उसी विकृति का शिकार हो गई लगती हैं। लक्ष्य तो अच्छा था, पर अनुष्ठान वैसा ना रहा। संवर सम्पूर्ण रात्रि की धर्मक्रिया होती है, परन्तु अब संवर सम्पूर्ण रात्रि का न रहकर कुछ घंटे का अनुष्ठान रह गया है। लोग 9-10 बजे धर्म स्थान में आते हैं, नींद ली और सूर्योदय से पूर्व ही घर चले जाते हैं। कुछ घंटे स्थानक में सोने का नाम ही संवर रह गया है।

इतना जरूर है कि संवर के इतने काल में आगन्तुक श्रावक घर के वातानुकूलित वातावरण से मुक्त रहता है। कुछ गृहस्थाचरणों से भी बचता है, पर आत्मा के स्तर पर जीवन जीने की प्रेरणा और चिन्तन आजकल नजर नहीं आता है, जो श्रावक-श्राविकाएँ विवेकपूर्ण संवर करते हैं, वे स्तुत्य हैं।

प्रश्न 10 : आगम व परम्परा के आलोक में देशावकाशिक व्रत के अन्तर्गत दया का स्वरूप क्या होना चाहिए तथा क्या दया 12 घंटे की भी की जा सकती है या नहीं? भिक्षु दया के विषय में क्या चिन्तन है?

उत्तर- श्रावक जीवन एवं उसके लिए निर्धारित 12 व्रतों का स्वरूप उपासक दशांग सूत्र में वर्णित है। इन 12 व्रतों के अन्तर्गत 4 शिक्षाव्रतों का स्वरूप प्रारम्भ से ही चर्चा का विषय रहा है, हर संघ व हर परम्परा ने अपनी-अपनी धारणानुसार इसका स्वरूप निर्धारित किया है। जहाँ भिन्न-भिन्न परम्पराएँ जनतान्त्रिक समाज हेतु आवश्यक हैं, वहीं श्रद्धालु मानस के लिए भ्रान्ति का कारण भी बन जाती हैं; अत: कुछ स्पष्टताएँ आवश्यक हैं। 10वें देशावकाशिक व्रत के अन्तर्गत तीन क्रियाएँ उभर कर आती हैं—(1) दया (2) संवर (3) चौदह नियम। दया का स्वरूप निर्धारण यहाँ हमारा ध्येय है।

इसका मौलिक स्वरूप क्या रहा होगा, ये तो निर्णय कठिन है, परन्तु व्रतों के पाँच अतिचारों के चिन्तन से एक निर्णय बना है कि श्रावक कुछ दिनों के लिए परिवार, व्यवसाय एवं गृहस्थोचित्त दायित्वों से देशत: (आंशिक),

अवकाश (छुट्टी) लेकर एकान्त में धर्माराधना करता है और उसके वस्त्र-भोजनादि की व्यवस्था अन्य व्यक्ति सँभालते हैं, ये दया का आगमिक व व्यावहारिक स्वरूप जँचता है। ये शिविर Life की तरह होता है तथा इसमें सामायिक, स्वाध्याय, धर्मचर्चाओं की मुख्यता रहती है।

वर्तमान संदर्भों में 'दया' का स्वरूप कैसा हो, इसके कुछ चिन्तन बिन्दु प्रस्तुत हैं—

1. दया हेतु 24 घंटे धर्माराधना का विधान है तथा जिसके दौरान कम से कम ग्यारह सामायिकें आवश्यक हैं। 12 घंटे या इससे कम समय की धर्माराधना को संवर या सामायिक नाम देना चाहिए, दया नहीं। यदि निद्रा एवं आहार का आगार है तो संवर, आगार नहीं है तो सामायिक।

2. दया शब्द के साथ पौषध शब्द का प्रयोग गलत है जिससे कई समस्याएँ खड़ी हो जाएँगी, भगवती सूत्र 12वें उद्देशक में शंख श्रावक के प्रसंग में खाते-पीते पौषध करने का प्रसंग आपवादिक है, वहाँ पौषध का अर्थ 11वें पौषध व्रत से नहीं अपितु आत्मगुणों को पोषण देने वाली किसी भी धार्मिक क्रिया से है। बौद्ध धर्म में भी गुरु और भगवान की उपासना '**उपवसथ उपोसथ**' कहलाती हैं। प्रारम्भ से आज तक निरपवाद रूप से पौषध में आहारादि का वर्जन अनिवार्य रहा है। अत: हमारा कर्त्तव्य है जिस अनुष्ठान में आहार ग्रहण हो, उसके लिए पौषध शब्द का प्रयोग न हो।

3. दया में भी भिक्षु दया हेतु लोग अत्यधिक उत्साहित रहते हैं, जिसमें आरम्भ-समारम्भ तथा अपने निमित्त से भोजन बनवाने का झंझट समाप्त हो जाता है, परन्तु आगमों में श्रमणभूत प्रतिमाधारक श्रावक के अलावा कहीं भी श्रावकों के लिए भिक्षावृत्ति का प्रावधान नहीं है तथा अजैन लोग भिक्षा के लिए जाने वालों को अगले रोज व्यापारादि में संलग्न, गृद्ध व कपटाचरण करते देखेंगे तो उन्हें मुनि वेश से भी ग्लानि हो सकती है और सबसे बड़ी हानि ये हो सकती है कि गृहस्थ ने लोक सम्पर्क से हटकर पूर्ण एकान्त और मौनपूर्वक आत्मचिन्तन हेतु समय निकाला था और वह भिक्षाचर्या की व्यस्तताओं में लुप्त हो जाता है; अत: सामाजिक व्यवस्था में से या घर से मँगवाकर ही भोजन करना चाहिए, वह भी दो बार से अधिक

नहीं और अधिकाधिक समय मौन, ध्यान, स्वाध्याय, चिन्तन, धर्मचर्चा में व्यतीत करना चाहिए, दया का ऐसा स्वरूप सही लगता है।[3]

प्रश्न 11 : श्रावक-श्राविकाओं की अहिंसा का दायरा क्या रहा है और वर्तमान में क्या स्थिति है?

उत्तर—जैन धर्म का मूल अहिंसा और दया है, आगम इसी का प्रतिपादन करते हैं, जीव मात्र की रक्षा का संदेश भगवंतो ने दिया है।

''सव्वपाण भूय जीव संरक्खणट्ठाए भगवया पावयणं सुकहियं'' भगवान ने सब प्राणियों की रक्षा हो, केवल इस लक्ष्य से अपनी वाणी का प्रसार किया है फिर इसी दया के पात्र जीवों का वर्गीकरण किया गया—त्रस और स्थावर। सारी प्रकृति को हमने जीवंत माना तथा उसकी रक्षा का दायित्व विकसित प्राणियों को दिया, स्थावर और त्रस इस विभाजन के बाद दया का स्वरूप कुछ-कुछ बदलने लगा। किसी के लिए स्थावर रक्षा महत्त्वपूर्ण हो गई, किसी के लिए त्रस रक्षा। आगमकारों ने तो दोनों का सन्तुलन बना दिया कि साधु त्रस-स्थावर दोनों की रक्षा करें तथा श्रावक त्रस की रक्षा करें तथा स्थावर की मर्यादा करें, परन्तु बाद में उस समय सन्तुलन डगमगा गया जब प्रश्न आया कि क्या त्रस की रक्षा के लिए स्थावर का उपयोग किया जाए अथवा नहीं। वास्तविकता तो ये थी कि अपनी रक्षा के लिए स्थावर को Use किया जाना निषिद्ध नहीं है तो अन्यों की रक्षा के लिए स्थावरों का Use विवादास्पद क्यों बनाया गया और सम्प्रदाय भेद का कारण भी, नव सम्प्रदाय तेरापंथ के उद्‌भव के बाद प्राचीन परम्परा ने भी Defensive रुख अपनाना शुरू कर दिया। वहाँ साधुओं ने दया का खुलकर प्रचार बंद कर दिया। श्रावकों ने दया का दायरा संकीर्ण कर लिया, यों भगवान महावीर स्वामी की दया One Way Traffic बन गई। प्रवृत्ति के द्वार बंद हो गए। निवृत्ति तो बंद द्वार को ही कहते हैं अत: निवृत्ति के बंद दरवाजों में आत्मसन्तुष्टि के लिए धर्माराधना, यही रह गई महावीर की दया। परम्परा ने आगम से जो पाया था उसका सार खो दिया, लघु अंश बचा लिया। ऐसा ही कुछ-कुछ घटनाचक्र अन्तर्राष्ट्रीय

स्तर पर चलने लगा है। आज न्यायालयों, राजनीतिक मंचों पर ये टकराव चल रहा है कि मानव विकास के लिए विकास योजनाओं को बढ़ावा देने के लिए प्रकृति का दोहन किया जाए या नहीं, प्रकृति संरक्षण करते-करते मानव का बलिदान किया जाए या नहीं, देखो क्या दिशा निर्धारित होती है।

प्रश्न 12 : श्रावक ने प्रातः ही दिनभर के लिए पानी प्रासुक किया, जो जीव दोपहर या शाम को मरने थे, उन्हें प्रातः ही मारने से क्या अधिक पाप नहीं हुआ?

उत्तर- श्रावक संपूर्ण रूप से साधु की तरह स्थावरकाय की हिंसा का त्यागी नहीं होता। वह स्नान के लिए, पीने के लिए, खेतों की सिंचाई के लिए व अन्यान्य दैनिक क्रियाओं में पानी की हिंसा करता ही है, पर प्रासुक पानी पीने वाला कुछ समय के लिए पानी के असंख्य जीवों को जन्म-मरण की प्रक्रिया से मुक्त कर देता है। अन्यथा पानी में जन्म-मरण की प्रक्रिया चलती ही रहेगी। वैसे भी श्रावक के लिए यह नियम हिंसा-अहिंसा की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है अपितु त्याग भावना बढ़ती रहे, यह मूल लक्ष्य है। प्रासुक पानी का taste भी बदल जाता है, कच्चे पानी की अपेक्षा प्रासुक करके पीने में जोर पड़ता है, ऊब आती है; अतः यह नियम स्वाद-नियंत्रण, अनासक्ति भाव बढ़ाकर विशेष कर्मनिर्जरा में भी सहयोगी बनता है।

❀ ❀ ❀

1. श्रावक केशलोच विषयक-बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित लेख "श्रावक केशलोच-एक आगमेतर सोच" अतीव पठनीय है।
2. 15 कर्मादानों से सम्बन्धित बहुश्रुत गुरुदेव का सुदीर्घ लेख "कर्मादान एकेन्द्रिय केन्द्रित नहीं है" पठनीय है।
3. बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित लेख "दया" विषयक पठनीय है।

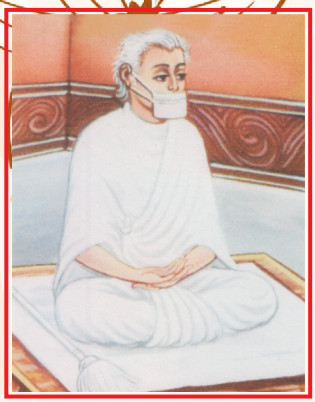

साधु-साध्वी समाचारी

4. साधु-साध्वी समाचारी

प्रश्न 1 : घड़े में रखा प्रासुक जल क्या साधु द्वारा ग्राह्य है?

उत्तर- जल प्रासुक होना चाहिए, वह किस पात्र में रखा है, यह विषय गौण है। कभी बाल्टी का भी अग्राह्य हो सकता है, यदि बाल्टी अशुद्ध या अन्य कारणों से संघट्टा दोषयुक्त है और कभी घड़े का भी ग्राह्य है, यदि घड़ा अच्छी तरह देखभाल कर रखा गया है जिसमें निगोद की उत्पत्ति ना हो, जिसका तल दिखाई देता हो, जो प्रतिदिन प्रयुक्त होने की बजाय समय-समय पर सुखाया भी जाता हो।

कुछ वर्ष पूर्व हमारी परम्परा में भी घड़े का पानी ग्राह्य था तथा घड़े का प्रयोग स्वयं मुनि भी करते थे। कभी-कभी विहारों में साथ भी ले जाते थे। अतः घड़े का पानी विवेकपूर्वक लिया जाए तो आपत्ति नहीं है। परंतु गृहस्थ के घर स्थित घड़े के विषय में उस गृहस्थ ने पर्याप्त विवेक रखा है, इस विषय मे आश्वस्त कैसे हुआ जाए? अतः उस पानी की ग्राह्यता अग्राह्यता साधु व श्रावक के संयुक्त विवेक पर ही निर्भर करती है।

प्रश्न 2 : पोचे का पानी साधु-साध्वियों द्वारा ग्राह्य है या अग्राह्य?

उत्तर- प्रासुक पानी के रूप में उबला हुआ गर्म जल या बर्तनों का धोवन ही प्रमुख रूप से ग्रहण किया जाता रहा है। R.O. पानी को शुद्ध जल तो कहा जा सकता है, पर अचित्त मानने की हमारी मान्यता नहीं है। पोचे का पानी अनागमिक व हिंसावर्धक माना है। आगम में कहीं भी पोचे का पानी साधु के लिए ग्रहणीय नहीं कहा गया। आगम में वर्णित न होने पर भी अगर यह आगम के मूल संदेश का बाधक न होता तो शायद उचित हो सकता था, पर यह तो अहिंसा का पोषक होने की बजाय हिंसा वर्धक है।

(i) पोचे के मैले पानी में तो जलज त्रस जीवों के साथ-साथ सम्मूर्छिम मनुष्य की भी उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि जूतों के साथ घर में प्रविष्ट हुई अशुचि के अंश, बच्चों के मल-मूत्रादि के अंश, बड़े-बूढ़ों द्वारा प्रक्षिप्त नासिका का शुष्क श्लेष्म (Mucus) आदि पोचे का संग पाकर पानी में पहुंचते हैं और फिर पानी का लम्बा सम्पर्क पाकर जीवोत्पत्ति के लिए सक्षम कारण बनते हैं।

(ii) सर्दी तथा वर्षा के मौसम में तो घरों में पोचे पूरी तरह सूख भी नहीं पाते और उनमें नीलन फूलन की पूरी तरह से सम्भावना रहती है। उसी अनन्तकाय से सने पोचे का पानी अचित्त हो जाता होगा यह कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति कैसे सोच सकता है?

(iii) पोचा लगाने में फर्श पर रहे कीड़ी, कुंथु आदि जीव भी मरते हैं व उनके मृत कलेवर पानी में भी आ जाते हैं तथा उन मृत कलेवरों में अन्य जीवोत्पत्ति भी संभव है; अतः पोचे का पानी दोषपूर्ण है।

(iv) एक अन्य पहलू से पोचे का पानी लेने वालों ने इसे मान्य किया है कि इसमें निमित्त दोष से बचाव हो जाता है, पर निमित्त दोष से बचाव भी संभव नहीं लगता। एक ही घर से प्रतिदिन पोचे का पानी मिलता है, तो यही संभावित है कि श्रावक मुनि की जरूरत का विशेष ध्यान रखेगा। पोचा लगाने के लिए साफ कमरों का चयन करेगा। पहली बार पानी ज्यादा मैला होने पर दूसरी बार पोचा लगाएगा, ताकि पानी कुछ देने लायक-सा हो जाए। अगर साधु-साध्वी दिन निकलते (सूर्योदय होते) ही पानी के लिए आते हैं, तो गृहस्थ सुबह जल्दी उस समय पोचा लगाएगा, जो समय पोचा लगाने का अक्सर होता ही नहीं है; अतः निमित्त दोष तो लगता ही है।

(v) आगमों में निन्दित भिक्षा का निषेध है, पोचे का पानी भी बहुनिन्दित होने से अग्राह्य है।

(vi) जिसका रंग, रूप, स्वाद आदि बदल जाए, ऐसा पानी साधु के लिए ग्राह्य ही होता है, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। रंग व स्वाद आदि

परिवर्तित होने पर भी गंदे नाले व बरसात आदि का गंदला पानी साधुओं के लिए अग्राह्य ही होता है। इसी प्रकार पोचे का पानी भी अग्राह्य है; क्योंकि वह पानी अप्कायिक जीवों के लिए तो हो सकता है जीने के लिए सही नहीं होता हो, पर त्रसकाय जीवों की उसमें उत्पत्ति हो जाती है। राख Anti Septic होती है, राख का पानी उपर्युक्त दोषों से रहित है; अतः ग्राह्य है।

(vii) पोचे का पानी गृहस्थ वर्ग में निर्विवाद रूप से जुगुप्सित समझा जाता है, जिसके ग्रहण व प्रयोग से जिनशासन की हीलना-निन्दना होती है। कई बार किसी कार्य में कोई दोष ना होते हुए भी यदि वह हीलना-निन्दना का कारण है तो आगमानुसार उसका वर्जन किया जाना चाहिए, यदि वह संयम समाचारी का अपरिहार्य अंग ना हो।

(viii) पोचे के पानी के प्रसंग में दिए जाने वाला सुबुद्धि प्रधान का उदाहरण भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि सुबुद्धि प्रधान ने नाले के पानी को कई प्रकार के process के बाद शुद्ध किया था, मात्र फिटकरी घुमा कर नहीं, अतः पोचे के पानी की इस प्रकरण के साथ तुलना ठीक नहीं है। नाले का गंदा पानी भी अचित्त नहीं था, स्वच्छ होने पर पीया जाने वाला पानी भी अचित्त नहीं था। यही स्थिति लगभग पोचे के पानी के विषय में प्रतीत होती है।

अतः पोचे का पानी पूर्णतः अनागमिक, दोषपूर्ण, हिंसावर्धक, अव्यावहारिक और जिनशासन की हीलना करने वाला है।[1]

प्रश्न 3 : साधु साध्वी द्वारा प्रथम दिन फरसे गए घर से दूसरे दिन आहार लाने के विषय में आगम का क्या संकेत है?

उत्तर- आगम में ऐसा कोई वाक्य या पंक्ति नहीं है कि साधु-साध्वी किसी घर पर आहार-पानी के लिए कितने समय बाद जाएं। किसी स्थान पर रहने का काल-निर्धारण जिनकल्पिकों तथा स्थविरकल्पिकों के लिए भिन्न-भिन्न है। जिनकल्पी मुनि **'गामे एग राइया, नगरे पंचराइया'** गांव में एक रात तथा नगर में पांच रात रहते थे। नगर के पांच भाग करके एक-एक रात

बिताते थे। इस तरह वे किसी भी घर से एक बार से ज्यादा आहार नहीं लेते थे। परंतु स्थविरकल्पी मुनि एक मास तक एक स्थान पर ठहरते थे। उनके लिए कोई निश्चित मर्यादा नहीं थी कि किस घर पर कब जाए तथा कब नहीं जाए। परंतु आगम के **'नियाग'** शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जाने लगी कि मुनि को एक घर से प्रतिदिन आहार लेना 'अनाचार' है और स्थानकवासी व तेरापंथी दोनों ही परम्पराओं में यही अर्थ प्रसिद्ध हो गया।

सर्वप्रथम 'नियाग' शब्द की छाया 'नित्यपिंड' बनती ही नहीं। नित्य शब्द को प्राकृत में 'निच्च' कहा जा सकता है, न कि नियाग। कल्पसूत्र में लिखा है कि तेले से अधिक तपस्या करने वाला मुनि पारणे में 'णिच्चभत्तिय' हो सकता है अर्थात् वह निरंतर आहार कर सकता है। अभिप्राय ये है कि नित्यपिंड को 'नियाग पिंड' से नहीं जोड़ा जा सकता, दूसरे पूर्वाचार्यों ने 'नियाग' का अर्थ निमंत्रित भोजन किया है। प्राचीन टीकाकार निमंत्रित भोजन को अनाचार की श्रेणी में रखते थे। उनकी दृष्टि से भी एकान्तरित आहार ग्रहण की व्याख्या आगमिक नहीं है।

तीसरे, 'नियाग' शब्द की व्याकरण सम्मत व्याख्या करे तो इसकी छाया बनती है निजात्म, इसका आशय बनता है कि साधु-साध्वी किसी वस्तु को गृहस्थ के घर पर यह कहकर न रखें कि 'ये मेरी अमानत है इसे कल या बाद में ले लूंगा।' यदि अपनी कहकर कोई वस्तु रखवाई जाती है, तो यह 'अनाचीर्ण' कहलाता है।

नियाय-नियाग शब्दों पर पुनर्विचार करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में आए **'बुद्धपुत्त नियागट्ठी'** की निजात्मार्थी छाया सही बनती है तथा आचारागं सूत्र के प्रथम अध्ययन में **'नियाग-पडिवण्णे'** का अर्थ 'निजात्म-प्रतिपन्न' करना उचित है। यहां नित्य अर्थ करना जिस प्रकार असंगत है, ऐसे ही दशवैकालिक में 'नियाग' का अर्थ नित्यपिण्ड करना असंगत है।

आगमकारों का मूल लक्ष्य तो निमित्त दोष टालने का है। यदि लगातार दो दिन आहार लाते हुए निमित्त दोष लगता हो तो टाल दो, नहीं लगता हो तो मत टालो तथा दो दिन टालने पर निमित्त दोष की संभावना अधिक बढ़ती

हो तो उस आग्रह का त्याग भी जरूरी है। जिस बस्ती में संत थोड़े हो, घर ज्यादा हो वहाँ तो एकांतर गोचरी की व्यवस्था शान से निभती है पर जहाँ घर थोड़े हो संत ज्यादा, वहाँ कुछ न कुछ घुमावदार समाधान निकालना पड़ता है।

सर्वप्रथम कुछ घरों को अत्यधिक सावधान होना पड़ता है। पर्याप्त और पर्याप्त से ज्यादा मात्रा में अशनादि तैयार करने पड़ते हैं ताकि मुनियों की गोचरी में अंतराय ना पड़े। दूसरे घर, उस दिन पूर्णत: निश्चिंत हो जाते हैं। इसके अलावा भी साधु-साध्वी को पूर्व दिन के घर पुन: फरसने पड़ते हैं, इस आधार पर कि कल वाले घर से लिया हुआ पानी आज पीने के काम नहीं लेंगे, पर वस्त्र आदि के हित (वापरने के लिए) प्रयोग कर लेंगे। इस तरह कुछ-न-कुछ ढील देनी ही पड़ती है। विवशताओं का सामना सबको करना पड़ता है। उन्हें स्वीकारना अच्छा है बजाय यह कहने के कि हमारी प्रत्येक चर्या आगमानुसारी है। आगम में ऐसी कोई भेद रेखा नहीं खींची गई है कि पीने का पानी तथा धोने का पानी अलग नियम से लाए जा सकते हैं।

आगमकाल में मुनि एक बार ही भोजन लेते थे और लाते थे, दोबारा नहीं; अत: एक दिन में तो उसी घर में पुन: आहार ग्रहण की संभावना नहीं रहती थी, पर अगले दिन की पाबंदी नहीं होती थी। मूल भाव ये है कि गृहस्थ को पहले से आभास न होने दिया जाए कि उस समय मुनि आहारार्थ आएंगे, तभी निमित्त दोष टल सकता है, अन्यथा नहीं। अप्रतिबद्धता आवश्यक है, एकान्तरिता नहीं।

प्रश्न 4 : गृहस्थ के घर गोचरी हेतु जाने पर साधु-साध्वी का आचार व्यवहार कैसा हो तथा किस स्तर तक गवेषणा हो?

उत्तर- जैन साधु-साध्वी का पूरा प्रयास रहता है कि मैं जो आहार-पानी लूं वह निमित्त दोष आदि 42 दोषों से रहित हो, इसलिए वो काफी जांच पड़ताल करके ही आहारादि ग्रहण करता है। कुछ तथ्य तो वह अपनी बुद्धि बल से ही जान लेता है कि भोज्य सामग्री सदोष है या निर्दोष, तथा कुछ

तथ्य वह सामान्य पृच्छा से स्पष्ट कर लेता है, फिर भी जिस व्यवहार से गृहस्वामी का अपमान होता हो, उन्हें छोटा साबित किया जाता हो, वह व्यवहार वर्जनीय है। 33 आशातनाओं की सूचि में **'साहूणं आसायणा'** के साथ **'सावयाणं आसायणा'** भी परिगणित हैं। यदि साधु पूछता है कि तुम दो प्राणी हो, इतना दूध रोटी क्यों बनाया, रोजाना कितना बनाते हो इत्यादि लज्जित करने वाले शब्दों का प्रयोग गृहस्थ की आशातना है।

साधु को आहार देने से पूर्व गृहस्थ साधु से ये पूछे कि आहार के 6 कारणों में से आप किस कारण के अंतर्गत लेने आए हो, क्या गुरु की अनुज्ञा लेकर आए हो, किस घर से निर्दोष मिला है, गृहस्थ के ये शब्द सरासर साधु की आशातना है। ऐसे ही गृहस्थ की एक गरिमा है, स्तर है, उसको भग्न करना गृहस्थ की आशातना है। उससे बचना चाहिए। सुना है एक गांव में जैन संत ने दाता की जाति पूछ ली और वह रविदासी था, ये शब्द भी पल्ले नहीं पड़ा तो सीधे तौर पर जाति पर आए, पानी छोड़कर आ गए। वह आदमी जातिवादी मानसिकता को लेकर court में जाने की धमकी देने लगा तब जैनों ने क्षमा मांगी, ये सब व्यवहार वर्जनीय है। ठीक है कि भगवान ने मुनि को जांच-पड़ताल के लिए कहा है **'कस्सट्ठाकेण वा कडं'** किसी भी अस्वस्थ, गर्भवती, अतिथि आदि के लिए कोई खास item बना हो, उसको अंतराय न आए इस दृष्टि से पूछने का संकेत है ना कि किसी को जलील करने का। इसके साथ-साथ साधु के गृहस्थ के घर आने पर भक्तिपूर्ण, श्रद्धापूर्ण माहौल बनना चाहिए ना की भयावह। कुछ साधु गवेषणा के नाम पर बड़ा ही आंतकपूर्ण-डरावना वातावरण तैयार कर देते हैं, कमजोर हृदय की बहनें काफी देर तक सहमी रहती हैं।

साधु व्यवहार, प्रवचन, गोचरी, धर्मचर्चा, हर स्तर पर, हर किसी स्थिति में सौम्य, शांत, प्रसन्नवदन, स्नेहिल होना चाहिए, ना कि अपनी क्रिया (चर्या) की कठोरता अपने स्वभाव में लानी चाहिए।

दूसरी बात, आहारदात्री बहनें विशेष भावनाशील होती हैं, भावनावश वे ज्यादा-से-ज्यादा बहराने का भाव और चाव रखती हैं, ऐसी स्थिति में भी साधु को हक नहीं है कि वह उस बहन को डराए, धमकाए, डांटे, हाँ

प्रेमपूर्वक समझा सकते हैं कि अनुकूलता नहीं है, कम कर दो, झोली बंद करके गुस्से में निकल जाना या आहारदात्री को जलील करना साधु का धर्म नहीं है।

प्रश्न 5 : आजकल घरों में फिक्स चूल्हे, इनमें चार बर्नर होते हैं- वहाँ यदि एक जल रहा हो तो अन्य से आहार ले सकते हैं या नहीं? हालांकि वो चूल्हा स्लेब में पूर्णतः Fix होता है।

उत्तर- स्लेब पर Fixed चूल्हा हो और दो-तीन-चार बर्नर हों तो जलते हुए बर्नर का ही संघट्टा त्याज्य होता है, शेष का नहीं। यदि चूल्हा Movable हो, हिलने, सरकने वाला हो तो एक बर्नर की अग्नि से सारे चूल्हे का संघट्टा माना जाता है।

प्रश्न 6 : दिल्ली जैसे महानगरों में चार-चार मंजिले घर हैं यदि एक मंजिल वाला रिमोट से खोल दे तो उसका चूल्हा ही त्याज्य है या सभी चूल्हे?

उत्तर- चार मंजिले मकान में एक ही मंजिल के व्यक्ति ने रिमोट से गेट खोला है तो उसकी रसोई ही त्याज्य होनी चाहिए; शेष नहीं, ऐसा जंचता है। वैसे ये विषय सभी के द्वारा निर्णीत हो जाए, तभी औचित्य है।

प्रश्न 7 : क्या चतुर्विध आहार (अशन पान खादिम स्वादिम) ग्रहण की अनुमति देकर भगवान ने मुनियों की स्वादुप्रियता को प्रोत्साहन दिया है?

उत्तर- जैन मुनियों की आहार पद्धति की कुछ विशिष्ट पहचान रही है। 1. मद्य एवं मांस किसी भी परिस्थिति में अनुमत नहीं है, जबकि सहवर्ती बौद्ध संघ में संकटकाल में अनुमति मिली। 2. फल-पुष्प, नदी-झरनों का जल भी पूर्णतः निषिद्ध रहा चाहे मुनिवर्ग वनों में, उद्यानों मे रहता रहा था, जबकि ब्राह्मण संन्यासी कन्द, मूल, फल, फूल आदि प्राकृतिक आहार से अपनी आजीविका चलाता रहा। 3. स्वयं अपने हाथों से भोजन पकाने का

दायित्व नहीं लिया, भले ही उसमें अधिकतम सादगी एवं समृद्धि संभव हो सकती थी। 4. अपने लिए भोजन बनाने का गृहस्थ को आदेश नहीं दिया; न निमित्त से बने भोजन को स्वीकृत किया। 5. गृहस्थ पर भार न बढ़े इसलिए एक घर से संपूर्ण आहार न लेकर सामुदानिक-सामुदायिक समग्र समाज से आहारादि लिया गया।

इस तरह की विविध सीमाओं में रहकर साधु-साध्वी गृहस्थ के घर जाते थे, जो मिल जाता, वही ले लेते थे। वह साधारण चावल-दाल भी हो सकता था, वह पानक भी होता था ताकि प्यास का निराकरण हो सके, यद्यपि पानक भी स्वाद की दृष्टि से रसीले होते थे। कभी-कभी रससिक्त मोदकादि भी मिल जाते थे, जैसे कि अन्तगड़ सूत्र में 6 मुनियों को बहराए गए सिंह केसर मोदकादि के वर्णन से ज्ञात होता है। संभव है किसी समय मुखवास जैसे पदार्थ भी मिल जाते हों। मुनि इनके लिए याचना नहीं करता था, अपितु दाता के पास देय पदार्थ वही हो तो समयानुसार ग्रहण कर लेता था। किसी पदार्थ के सेवन मात्र या त्याग मात्र से मुनित्व की रक्षा या अरक्षा निर्भर नहीं करती। उसकी मानसिक दिशा ही उसकी साधना का निर्धारण करती है, खाद्य वस्तु का स्वरूप नहीं।

भगवान् का दृष्टिकोण उभयपक्षी है, ब्रह्मचर्य की गुप्तियों में 'प्रणीत पान भोजन' से बचने का निर्देश है, तपों की व्याख्या में रस परित्याग के अन्तर्गत निव्विगय (विगयों का त्याग) पर पूरा जोर दें, **'रसगिद्धे न सिया भिक्खाए'** कहकर भिक्षु को रसगृद्धि से बचने का आदेश है, **'जवणट्ठाए निसेवए मंथु'** केवल गुजारे के लिए बेर का चूर्ण सेवन करने की हिदायत है, ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में पुत्री मांस-रक्त सेवन दृष्टान्त तथा चोर को सेठ द्वारा दिए भोजन दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है कि मुनि केवल शरीर यात्रा के लिए आहार करे, स्वाद के लिए नहीं। आचारांग सूत्र ने स्वाद के लिए दाएं से बाएं, बाएं से दाएं जबड़े में आहार के ले जाने तक का निषेध कर दिया।

इस सबके बावजूद भिक्षाचर्या की विवशता को तथा सामान्य घरों में उपलब्धता को ध्यान में रखते हुए खाद्य-स्वाद्य पर पाबन्दी नहीं लगाई।

एकांगी चिन्तन न रहे, यही लक्ष्य वीतरागों का रहा है। अधिक आग्रह वृत्ति होने पर शरीर का सम्यक् पोषण भी असंभव हो सकता था। प्राणामा प्रव्रज्या के साधक तामली तापस को अपना भोजन ओदन 21 बार धोना पड़ता था, फिर तो कोई व्यक्ति जैन मुनियों से भी ये अपेक्षा करने लग सकता है। इस संदर्भ में जैन साधना-पद्धति अधिक तर्कसंगत रखी गई, वस्तु की सरसता या नीरसता पर अधिक ध्यान न देकर भोक्ता की मनोवृत्ति का परिष्कार ही अभिप्रेत रहा। आचार्य हेमचन्द्र के समक्ष भी ऐसा प्रश्न आया था। उनसे एक व्यक्ति ने पूछा कि कन्दमूलादि के सेवनकर्त्ता मुनि भी नारी का रूप देखकर विचलित हो गए थे। फिर आप तथा आपके मुनि तो स्वादिष्ट आहार भी ग्रहण करते हैं फिर शील की सुरक्षा कैसे रहती होगी? आचार्य श्री जी ने कहा कि ये मानव-मानव पर निर्भर है। आहार का योगदान बहुत अधिक नहीं होता; उदाहरणार्थ- शेर का भोजन मांस है, पर उसकी कामेच्छा वर्ष में एक बार जागृत होती है; जबकि कबूतर पत्थर खाते हैं, पर दिन भर कामतृप्ति के लिए मचलते रहते हैं, ये एक संतुलित दृष्टि है।

प्रश्न 8 : साधु-साध्वी के प्रयोग में आने वाले लकड़ी के पात्र श्रम साध्य, कीमती तथा अल्पायु होते हैं, साधु परम्परा के निमित्त वृक्षों को काटकर बनाये जाते हैं; अतः ऐसी स्थिति में प्लास्टिक या ऐसे किसी अन्य द्रव्य से बने पात्र क्या ज्यादा निर्दोष नहीं होंगे?

उत्तर- आगम में तीन प्रकार के पात्रों को ग्रहण करने की अनुमति दी गई है—(1) मिट्टी, (2) लकड़ी, (3) तुम्बी। इन तीनों की अनुमति के पीछे कारण रहे। पहला सस्तापन और सुलभता, दूसरा धातु-निर्मित पात्रों का अप्रयोग। प्राचीन युग में तीनों प्रकार के पात्र सहजतया उपलब्ध होते थे, किन्तु अब मिट्टी के पात्र ग्रहण नहीं किये जाते, न तुम्बी के, केवल लकड़ी के पात्र ग्रहण किये जाते हैं जो कि सर्वसुलभ नहीं होते। उनका निर्माण केवल जैन सन्तों के निमित्त होता है। वे बहुमूल्य होते हैं, जल्दी टूटते हैं, वृक्षों को काटकर बनाये जाते हैं; अतः हिंसा को बढ़ावा देते हैं। ये पर्यावरणविदों की दृष्टि में अग्राह्य हैं। यदि संयमी परम्पराओं के मुखिया

सन्त इस विषय पर सहमति बना लें और नया विकल्प चुन लें तो अहिंसा धर्म और साधु धर्म की शोभा ही होगी। Plastic के पात्रों को हम मिट्टी के बर्तन भी कह सकते हैं; क्योंकि Plastic Neptha से बनता है। Neptha Petroleum Product है। Petroleum जमीन के अन्दर से ही निकलता है। इस दृष्टि से इसे मिट्टी मानकर आगमिक शब्दों की सुरक्षा भी बनी रहती है। केवल देखना यह है कि Plastic के पात्र प्रदूषण बढ़ाकर भोजन को दूषित न करें तथा Plastic के पात्रों की जोड़नुमा (12-13-14 पात्रों वाली) सहज उपलब्ध हो जाए।

प्रश्न 9 : राजपिण्ड का वर्तमान तथा प्राचीन समय में क्या अर्थ रहा है तथा राजपिण्ड निषेध का कारण क्या है?

उत्तर—आगमकारों ने साधु-साध्वी के आहार विधि से सम्बन्धित अनेक नियम-उपनियम बनाये हैं—वहाँ उनके लिए 'राजपिण्ड' यानि राजघरानों से आहार लेने का निषेध है। राजपिण्ड का निषेध सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं है। महाविदेह क्षेत्र के साधकों एवं भरत ऐरावत के मध्यवर्ती 22 तीर्थंकरों के साधकों के लिए निषेध नहीं है। निषेध के पीछे अनेक कारणों में दो कारण प्रमुखता से नजर आते हैं—1. साधु-साध्वी राजनीति एवं राजनेताओं से दूर रहें; क्योंकि इनका सम्पर्क संक्लेश कारक होता है अत: साधु-साध्वी राजघरानों में गोचरी जाने से परहेज करें।
2. राजघरानों में अधिकांशत: माँसाहार का प्रचलन था; अत: लोगों में मुनियों के आहार को लेकर भ्रान्ति भी बन सकती है। इस प्रकार ऐसे घर तथा रसोइयाँ वर्ज्य कोटि में हैं जहाँ माँसाहार चलता हो।
छेद सूत्रों के पाठों की सम्यक् विवेचना से ज्ञात होता है कि आगमकारों ने 'राजपिण्ड' का निषेध और भी किन्हीं विशेष कारणों से किया था। राज्य की ओर से चलने वाले जनहित के कार्यों में सरकारी अनुदान से चलने वाले उपक्रमों में तथा राज्य कर्मचारियों के लिए विशेष रूप से संचालित व्यवस्थाओं में से आहारादि लेना भी 'राजपिण्ड' कहा गया है। ऐसी व्यवस्थाओं में पाई-पाई का हिसाब रखना आवश्यक होता है तथा वहाँ से

ली गई सुविधा सेवा से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलने की सम्भावना बन सकती है, जाँच पड़ताल के दौरान साधु-साध्वी भी कटघरे में आ सकते हैं। इस शासनहीलना से बचने के लिए राजपिण्ड पर पाबंदी लगाई गई है। पुराने समय में राजवंशों का शासन चलता था, आजकल प्रजा के चुने प्रतिनिधियों का शासन है, तब एक शासक की रसोई का आहार वर्जित किया जाता था। आज राजधानी जैसे शहरों में सैकड़ों की संख्या में M.L.A., M.P., Minister होते हैं जिनमें कुछ श्रद्धालु भी होते हैं, उनकी रसोइयाँ शुद्ध हों तो उनके यहाँ से आहारादि लेने में राजपिण्ड दोष नहीं लगना चाहिए।

वर्तमान काल में सेना के अफसरों की सामूहिक Mess से, Schools में चलने वाली Mid day meals में से आहार लेना, मनरेगा आदि स्कीमों के अन्तर्गत बँटने वाले अन्यान्य उपकरणों को लेना राजपिण्ड के अन्तर्गत माना जा सकता है। अधिकारिक प्रबुद्ध महामुनिराज इस विषय पर निर्णय लें तथा ऐसे स्थानों को टाला जाए और अभक्ष्य तामसिक पदार्थ कहीं भी बनता हो, वह तो सर्वथा वर्ज्य है ही।[2]

प्रश्न 10 : साधु साध्वी के लिये वस्त्र प्रक्षालन के लिए प्लास्टिक के टब-बाल्टी आदि पात्र क्या सर्वथा अग्राह्य हैं?

उत्तर- आगमों में पांच प्रकार का व्यवहार मान्य किया जाता है—आगम, सूत्र, आज्ञा, धारणा और जीत, जिन विषयों में सूत्र आदि की ओर से स्पष्ट निर्देश उपलब्ध न हों, उन विषयों को युगीन पांच महापुरुष मान्य कर लें तो वह दोषदार नहीं माना जाता, इसे जीत व्यवहार कहा जाता है। भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग 8-9 सौ वर्ष तक मुनियों के ग्राह्य और श्रावकों के देय पदार्थ चौदह होते थे **''असणं पाणं खाइमं.... पडिहारिय पीठ फलग सेज्जा संथारएणं''**। जब आचार्य देवर्धिगणी के नेतृत्व में आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया, तब और भी पदार्थ ग्राह्य और देय हो गए- ताड़पत्र, भोजपत्र, लेखनी, स्याही, स्याही के पात्र और भी अनेकानेक

वस्तुएं। इनका ग्रहण सदोष नहीं माना गया, न आज माना जाता है, इसी तरह टब आदि के विषय में समझना चाहिए।

जैसे कागजों की सुरक्षा के लिए पुट्ठे लिए जाने, स्याही के रखने वास्ते दवात ली जानी आवश्यक है, ऐसे ही वस्त्रों की सुरक्षा के लिए उनका प्रक्षालन आवश्यक है और प्रक्षालन के लिए टब आदि भी ग्राह्य है। वस्त्र सीने के लिए सूई, वस्त्र काटने वास्ते कैंची, नाखून काटने के लिए नखच्छेदनक (Nail Cutter) तथा अन्य बहुत सी धातुमय चीजें ली और प्रयोग के बाद वापस की जा सकती हैं तो टब आदि के लेने में तो और अधिक निर्दोषता है। क्योंकि टब आदि न तो सचित है न धातुज। यदि दवाई के लिए प्लास्टिक की शीशी आदि पात्र निषिद्ध नहीं हैं, तो आवश्यक कार्यों के लिए प्लास्टिक के पात्र भी निषिद्ध नहीं होने चाहिए।

इन्हें गृहस्थ का पात्र माना जा सकता है तथा प्रातिहारिक रूप में प्रयोग के पश्चात् लौटाने के रूप में लिए जाने में कोई आपत्ति नहीं है। वैसे प्लास्टिक का मूल स्रोत नेफ्था है जो एक पेट्रोलियम Product है और पार्थिव तत्व है; अतः उसे मिट्टी का बर्तन भी माना जा सकता है और मिट्टी के पात्र ग्रहण करने की आगमों में अनुमति है।

प्रश्न 11 : क्या साधु-साध्वियों द्वारा वस्त्रों की स्वच्छता के लिये सोड़ा-साबुन आदि का प्रयोग अनागमिक है?

उत्तर- जैन इतिहास में वस्त्र बड़े विभाजन का कारण रहा है, वस्त्र रखना या नहीं रखना इसी मुद्दे को लेकर श्वेताम्बर दिगम्बर दो वर्ग बन गए। जैनों का आधा भाग मुनि के शरीर पर वस्त्र देखते ही उसे गृहस्थ मानने लगता है। उसे उसमें किसी भी महाव्रत का अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। अब श्वेतांबरों में दूसरे विभाजन की तैयारी है। एक वर्ग मुनि के धुले वस्त्र देखकर उसे 'अमुनि' घोषित करने लगा है। उसके पास आगम का पाठ हथियार के रूप में होता है। **''वत्थाइं णो धोएज्जा णो रएज्जा''**। इस पाठ का स्पष्ट भावार्थ तो ये है कि साधु अधिक उजले और रंगीन वस्त्र न रखे। लेकिन अर्थ किया जाने लगा है कि वस्त्र बिल्कुल न धोए। वस्त्रों के

साथ पात्रों के लिए आगम का यही पाठ है कि **''पायाइं नो धोएज्जा, नो रंगेज्जा''** पात्रों को धोना और रंगना निषिद्ध है। इस पाठ की ओर उस वर्ग का ध्यान नहीं जाता, जबकि दोनों पाठ सहवर्ती हैं। वस्त्रों की चर्चा होती है, पात्रों की नहीं, पात्र धोए भी जाते हैं वार्निश आदि से रंगे भी जाते हैं, पर सारी चर्चा वस्त्रों को लेकर है। वस्त्रों का प्रयोग जुगुप्सा परिषह आदि कारणों से होता है, नग्नता से स्वयं को लज्जा होती है, समाज को बुरा लगता है, सर्दी, गर्मी, दंशमशक का प्रकोप बन जाता है, इसलिए वस्त्र धारण करने का विधान है। समाज को बुरा लगता है, इसलिए वस्त्र प्रक्षालन किया जाता है तथा जीवोत्पत्ति को रोकने के लिए भी वस्त्र प्रक्षालन उचित है।

यदि प्रक्षालन निषेध का शब्दानुसारी पालन किया जाए तो साधारण जल से वस्त्र धोना भी आगम द्वारा निषिद्ध है। यदि भावानुसारी पालन करना हो तो सोड़ा, साबुन का प्रयोग भी आगमानुकूल है। वस्त्र संयम की रक्षा के उपकरण हैं; अतः जिस विधि से वस्त्रों की सुरक्षा हो, वह विधि अपनाना अच्छा है। जैसे—पात्रों के लिए वार्निश, सफेदा करना, वैसे ही वस्त्रों के लिए सोड़ा-साबुन। शरीर के लिए दवाई जैसे अनुमत है, वैसे ही वस्त्रों के लिए सोड़ा-साबुन भी दवाई है, बस विवेक यह रहे कि विभूषा और शृंगार के भाव पैदा ना हों और वस्त्र प्रक्षालन में हिंसा न हो।

प्रश्न 12 : साधु-साध्वियों के लिये वस्त्र प्रक्षालन हेतु ढीबरा (घड़े के नीचे का हिस्सा) बनाना या प्रयोग करना क्या उचित है?

उत्तर- किसी एक वस्तु का प्रतिबंध होने पर उस जैसी किसी अन्य वस्तु का आविष्कार हो ही जाता है। वस्त्र है तो उनकी सुरक्षा भी आवश्यक है, सुरक्षा के लिए प्रक्षालन और प्रक्षालन के लिए किसी न किसी साधन की आवश्यकता होती है। यदि किन्हीं संप्रदाय में तसला, टब आदि प्रतिबंधित है तो अन्य विकल्प ढीबरा ईजाद में आया। वैसे तो घड़े को तोड़ना विराधना ही कहलाएगी, परंतु अनुपयोगी घड़ों को ढीबरों के रूप में प्रयोग करना उनका सदुपयोग भी कहला सकता है। अतः अपनी-अपनी परंपरा के अनुसार ढीबरा बनाना या प्रयोग करना अनुचित नहीं कहलाएगा।

प्रश्न 13 : सैल की घड़ी और मोबाईल का संघट्टा साधु-साध्वी के लिए क्या अवश्यमेव वर्जनीय है?

उत्तर- बिजली के स्वरूप को न समझने के कारण दो प्रकार की भ्रांतियां जैन समाज में फैली हैं। पहली यह कि बिजली किसी भी बिंदु पर सचित्त नहीं है चाहे बिजली के तारों से चिनगारियां ही क्यों न निकल रही हों। दूसरी भ्रांति ये कि जहां अग्नि का कोई गुणधर्म नहीं हो, वहां भी अग्नि मान कर उसे सचित्त घोषित करना। यदि मिथ्यात्व के दस भेदों की सांप्रदायिक व्याख्या का आश्रय लें तो यह कहा जा सकेगा कि एक वर्ग जीव की अजीव रूप में श्रद्धा-प्ररूपणा कर रहा है, दूसरा वर्ग अजीव की जीव रूप में। लगता है दोनों ही मिथ्यात्व का आश्रय ले रहे हैं।

अग्नि का धर्म है—चमकना, जलना, जलाना तथा उष्णता (Spark, light, Flash, Combustion)। जिस वस्तु में कुछ भी नहीं हो, उसे अग्नि कहना असत्य और मिथ्या है। जल को अग्नि क्यों नहीं कहा जाता; क्योंकि उसमें अग्नि के उपर्युक्त गुण नहीं हैं। इसी प्रकार मिट्टी, लकड़ी आदि को भी अग्नि नहीं कहा जा सकता, परन्तु बिजली, सैल आदि के संबंध में आग्रहवश या अज्ञानवश भिन्न-भिन्न चर्चाएं आ रही हैं, इस आग्रह व अज्ञान का कारण भी कारण-कार्य का अन्तर न समझ पाना है। विद्युत् का करण्ट एक बिंदु-विशेष पर पहुंच कर किसी तत्व को ऊर्जासम्पन्न करते-करते उष्ण और प्रकाशमय कर देता है। जब तक करण्ट प्रकाश का रूप धारण नहीं करता, तब तक वह अग्नि नहीं है, जैसे ही उसके कारण कोई तार प्रकाशित हो जाता है वैसे ही वह तार अग्निपुंज बन जाता है और सचित्तता की कोटि में आता है। इस अंतर को न समझना ही बड़ी भारी भूल बन जाता है। जैसे—सिलेण्डर की गैस अचित्त है, पर बर्नर पर आते ही जलने लगती है और सचित्त हो जाती है। माचिस की तीली घिसने से पूर्व अचित्त, घिस जाने के बाद सचित्त हो जाती है। ऐसे ही बिजली या सैल से निकलने वाला करण्ट अचित्त है, परन्तु जब वह चमकने की स्थिति में होता है तो सचित्त हो जाता है। सैल की घड़ी में सैलों से कुछ करण्ट ही निकलते

हैं जो घड़ी की गरारी को धक्का देते हैं और सुई आगे बढ़ जाती है। अतः उस यंत्र में कहीं भी सचित्त अग्नि का संघट्टा नहीं है।

जिज्ञासा हो सकती है कि घड़ी की सूइयां तो करण्ट से संचालित होनी संभव हैं, पर Date आदि का परिवर्तन कैसे होता है। इस विषय में भी पुरानी घड़ियों का सिद्धांत काम आ रहा है। एक सिस्टम मिनट, सैकण्ड का बना हुआ होता है दूसरा वार और तारीख का दोनों सिस्टम अलग-अलग करण्टों से संचालित होते हैं; अतः सैल की घड़ी अचित्त प्रतीत होती है। जहाँ तक मोबाइल का सवाल है, यदि वह बंद है या उसमें लाइट नहीं हो रही, लालबत्ती सी नहीं चमक रही तो उसका संघट्टा नहीं है और यदि लाइट हो रही है तो मुनि के लिए संघट्टा वर्जनीय है, परन्तु मोबाइल के बढ़ते प्रयोग ने इस संघट्टे का वर्जन बड़ा कठिन तो बना ही दिया है।

प्रश्न 14 : दीवार पर सैल का घण्टा लगा हो तो क्या वह स्थानक साधु-साध्वी के लिए रहने लायक नहीं है?

उत्तर- जिस संघ के संविधान में सैल की घड़ियाँ, घण्टे को अग्निरूप, सचित्त और अस्पृश्य स्वीकृत किया है, उनके लिए तो ऐसा स्थान दो दिन से अधिक रहने योग्य है ही नहीं। जहाँ **'णिरंतरं जोई झियाइज्जा'** ज्योति जलती हो, वह स्थान साधु-साध्वी के लिए वर्जित है। एक ओर सैल की घड़ी में अग्निकाय मानना, दूसरी ओर उससे युक्त मकान में रहना पूर्वापर विरोध है, जबकि वास्तविकता ये है कि सैल की घड़ी या घण्टे में अग्नि की उत्पत्ति है ही नहीं। अतः उससे युक्त मकान में रहने में कोई आगमिक बाधा नहीं है।

इसके विपरीत अग्निकाय की उत्पत्ति के कई अन्य साधनों पर पुनर्विचार आवश्यक है। Plastic के बैग, ऊनी कपड़े, पोलिस्टर के कपड़े स्वल्प से संघर्षण के पश्चात् सूक्ष्म प्रकाश किरणों को फैंकते हैं। प्रकाश किरणें अग्नि-रूप होती हैं, उनकी ऊर्जा शक्ति इतनी अल्प होती है कि अधिक तापमान बनने से पूर्व ही बुझ जाती है। उन किरणों में दाहक शक्ति भी नहीं होती, पर प्रकाशात्मकता अवश्य होती है। साधु-साध्वी को इनका ग्रहण

और स्पर्श वर्जित होना चाहिए। जिस श्रावक-श्राविका ने ऊनी या पोलिस्टर के कपड़े पहने हुए हैं, उनको वन्दना दूर से ही करने का विधान हो तथा चरणस्पर्श निषिद्ध। उन्हें धर्मसभा में प्रवेश की अनुमति भी नहीं मिलनी चाहिए। सैल की घड़ी में तो उतना भी प्रकाश नहीं कि घुप अंधेरे में दिखाई पड़ जाए; जबकि पूर्वोक्त वस्त्र आदि में पर्याप्त प्रकाश दृष्टिगोचर होता है, फिर तो जिस स्थानक में इस प्रकार के वस्त्रधारी श्रावक-श्राविका हो वहां मुनि को नहीं ठहरना चाहिए तथा सामायिक संवर में श्रावक-श्राविका को भी ऐसे वस्त्र वर्जित किए जाने योग्य हैं। परंतु इन्हें अपरिहार्य मानकर स्वीकार किया जा रहा है तथा ऐसा ही चिंतन कई अन्य विषयों में भी रखा जा सकता है।

प्रश्न 15 : दिवंगत महापुरुषों का जयनाद क्या अनागमिक और मिथ्यात्व पोषक माना जाए?

उत्तर- जैन धर्म में मुक्ति के तीन उपाय बताए हैं- सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र। यहाँ दर्शन का अर्थ है-भक्ति। वर्तमान काल में जैन समाज की स्थिति कुछ इस प्रकार की हो गई है कि उससे भक्ति की धारा लुप्तप्रायः होती जा रही है। केवल शुष्क ज्ञान के मरुस्थल में जैन मुनियों का विहरण होता प्रतीत हो रहा है, जबकि मूलतः ऐसा नहीं था, जैन धर्म में स्वार्थ-मूलक भक्ति का विरोध था, पर समर्पण-प्रधान गुणस्तुतिमय भक्ति का नहीं।

शक्रस्तव, चतुर्विंशतिस्तव, नंदीसूत्र की 50 गाथाएं, तीर्थंकर प्रकृति के 20 बोलों में प्रारंभिक भक्तियां इस तथ्य को पुष्ट करती हैं। भक्ति के तीन प्रस्थान बिंदु हैं- देव, गुरु और धर्म। देव और धर्म की स्तुति को स्वीकार करने वाले चिंतकों को गुरुभक्ति भी स्वीकरणीय होनी ही चाहिए। जिन गुरुओं से देव, धर्म की निकटता मिली, उन गुरुओं के गुणानुवाद, जयनाद करने से दर्शन-विशुद्धि होती है।

गुरुदेव चाहे जीवित हो या दिवंगत, सदैव शिष्य के हृदय में विराजमान होते हैं। शिष्य गुरु के उस रूप का ध्यान, गुणगान करता है जिस रूप में गुरु ने उसे सम्यक् ज्ञानादि प्रदान किए हैं। वह दिवंगत गुरु का इन शब्दों में

गुणगान नहीं करता है कि देवलोक में विराजमान, चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती, वैक्रिय शरीरधारी गुरु की जय हो या वंदना हो। महाव्रत पालन करने वाली उनकी छवि ही शिष्य के मन में अवतीर्ण होती है। जीवित अवस्था में भी वह उनके गुणों की वंदना करता रहता है और दिवंगत होने पर भी गुणों की ही वन्दना करता है, वह अपनी प्रार्थना या भक्ति-स्तवनों में उन गुणों का वर्णन करता है, जिससे वह प्रभावित रहा है; यथा—आप समता के सागर थे, चरित्र पूज्य थे, तपस्वी थे, कषाय-विजेता थे आदि। वह उन स्तुति पदों में ऐसे शब्द प्रयुक्त नहीं करता कि आप देवियों से घिरे हुए हो, दिव्य-सुख के भोक्ता हो, विमानाधिपति हो, आपको मेरी वंदना, आपकी जय हो। उसे तो ये भी ज्ञात नहीं कि मेरे गुरुवर किस गति में है, किस आकार-प्रकार के हैं। न केवल दिवंगत गुरु के संबंध में वह अनभिज्ञ है, अपितु जीवित अवस्था में भी वह नहीं जानता कि मुझे शिक्षा-दीक्षा देने वाले गुरु भव्य है या अभव्य हैं, सम्यक् दृष्टि हैं अथवा मिथ्यादृष्टि हैं, द्रव्य-संयमी हैं या भाव-संयमी हैं। वह अपने हृदय से उन्हें गुरु मानता है तो उसे उस भक्ति का फल मिलता है, न कि उसे मिथ्यात्व का दोष लगता है।

नंदीसूत्र में आचार्य देवर्धिगणी ने प्रभवस्वामी से लेकर दूष्यगणी तक की वंदना की, उनकी जयकार की है जिनमें से आचार्य मंगू के संबंध में तो पश्चाद्वर्ती कथाकारों ने विराधकता का आरोप भी लगाया है। उनके लिये कहा गया है कि वे काल करके निम्न जाति के व्यन्तर देवता बने। लेकिन आचार्य देवर्धिगणी ने उनके जिन गुणों को वंदना की है, वे हैं **''भणगं करगं झरगं पभावगं णाण-दसंणगुणाणं''** न तो आचार्य देवर्धिगणी की सम्यक्त्व खंडित हुई, न हजारों नंदीपाठ-कर्ताओं की भग्न हो रही है।

सम्यक्त्व का खतरा उन्हें है, जो गुरुभक्ति करते-करते सिकुड़ जाते हैं; जैसे—निह्नवों की चर्चा में आया है कि एक गुरु ने अपने मृत शरीर में प्रवेश करके मुनियों को पढ़ाया, अपने शिष्यों की वंदना ली। बाद में अपनी गलती के लिए क्षमायाचना की और कहा कि मैं देव हूँ, मुनियों की वंदना

का अधिकारी नहीं हूँ पर ये नहीं कहा कि तुम्हें दोष लगा, तुम दंड लो। पर वे बहक गए, परस्पर वंदना छोड़ दी, तब उन्हें मिथ्यात्व का उदय हुआ। गुरु के स्वरूप को वंदना न करना, जयकार को रोकना मिथ्यात्व है, न कि वंदना और जयनाद।

प्रश्न 16 : धर्मस्थानों में लगे साधु-साध्वी के चित्रों को आवृत करना या करवाना क्या ब्रह्मचर्य-गुप्ति का अंग है?

उत्तर- किसी भी गुण या दोष के उद्दीपक कारण होते हैं। अच्छे शब्द, अच्छे चित्र शुभ भावों को जन्म देते हैं तथा बुरे शब्द व बुरे चित्र अशुभ भावों को। निमित्त का उपादान पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए भगवान महावीर स्वामी ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए कुछ व्यवस्थाएं दी हैं कि साधु को स्त्री, पशु, पंडक से संसक्त वसति (मकान) में नहीं रहना। इसी का विस्तार करते हुए कहा **''चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं''** अत्यंत सजी-धजी कामुकतावर्धक नारी और चित्रभित्ति को न देखें। बात को आगे बढ़ाते हुए कहा है कि **''सचित्तकम्मंसि पडिस्सयंसि नो वसेज्जा''** चित्रकारी किए मकान में रहना ही नहीं।

इन सब पाठों का आशय स्पष्ट है कि जिन चित्रों से अश्लीलता, विलासिता की झलक मिलती हो, उनसे बचें। जिन चित्रों में ऐसी संभावना न बनती हो, उनसे कोई आपत्ति नहीं है। बृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देशक में आया है **''नो कप्पई निग्गथाणं वा निग्गंथीणं वा सचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए''** अर्थात् निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को सचित्र उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता है। इस पाठ का ध्येय भी स्पष्ट ही है।

यदि चित्र शब्द मात्र को आधार बनाया जाए, फिर तो जिस भवन में साधु या किसी भगवान विशेष का चित्र हो, वहां साध्वी को ही नहीं साधु को भी ठहरना नहीं कल्पता। यदि पुरुष चित्रों वाले भवन में साधु ठहरता है तथा महिला चित्रों वाले भवन में साध्वी ठहरती है तो भी सचित्र कर्म दोष लगता है। आगम पाठों में तो ऐसी भेदरेखा नहीं है कि विजातीय चित्रों से आपत्ति है, अन्य से नहीं। चित्रों को आवृत करने मात्र से मकान चित्र-रहित नहीं हो

जाता। उसकी उपस्थिति तो रहती ही है। जैसे—'आपाद्-शीर्ष' सिर से पैरों तक वस्त्रों से आवृत होने पर भी नारी-नारी ही रहती है तथा उसकी आवृत उपस्थिति हो तो भी साधु के लिए मकान वर्जनीय है। ऐसे ही आवृत चित्रों के साथ भी व्यवहार रखा जाना चाहिए। किसी चित्र के अंग-विशेष को विशेषत: नेत्रों को विकृत करने पर, ढक देने पर भी वह स्थान चित्र-रहित नहीं माना जा सकता। जैसे—अंधी महिला से युक्त भवन भी स्त्री-संसक्त माना जाता है, ऐसे ही विकृतांग चित्रयुक्त भवन भी चित्रयुक्त ही माना जाएगा, ये न्याय कहता है।

साधु-साध्वी के चित्र धर्म स्थानों में दीवारों पर होते है। रात्रि में अंधकार के कारण दिखाई भी नहीं देते। उनसे ब्रह्मचर्य साधना में बाधा पड़ने की संभावना नहीं है। जब दिन के प्रकाश में महिलाओं का आगमन निषिद्ध नहीं है, तो दिन में शिष्टचित्रों का निषेध नहीं हो सकता। रात्रि को अंधकार के कारण चित्र स्वत: ही अदृश्य हो जाते हैं। साधु-साध्वी के पास धार्मिक पुस्तकें या समाचार पत्र-पत्रिकाएं भी होती है। जिनमें पुरुषों व नारियों के सामान्य चित्र भी होते हैं तथा कभी-कभी भड़काऊ भी, उस प्रकार के पत्र-पत्रिकाएं जब निषिद्ध नहीं हैं तो धर्मस्थानों में चित्रों के होने में बाधा नहीं होनी चाहिए। कम-से-कम ब्रह्मचर्य की दुहाई तो देनी ही नहीं चाहिए।

जिन साधकों को साधु-साध्वी या मान्य तीर्थंकर भगवंतों के चित्रों से भी वासना उद्भव का खतरा प्रतीत होता है, उनकी मानसिकता काफी विकृत और दुर्बल मानी जाएगी। उन्हें तो फिर 'नारी' शब्द भी नहीं सुनना चाहिए तथा न पढ़ना चाहिए; क्योंकि शब्द भी विकारोत्पत्ति में निमित्त है। किसी धर्म स्थान में किसी साधु-साध्वी या भगवान का नाम लिखा हो, उसे भी हटवाना पड़ेगा, क्या पता उस नाम से भी चित्तवृत्ति दूषित हो जाए। साधु-साध्वियों या भगवानों के चित्रों पर वस्त्र ढकवाने की प्रवृत्ति की प्रतिक्रियाएं भी समाज में आने लगी हैं; यथा—तेरापंथ धर्मसंघ ने अपने भवनों में उन साधु-साध्वियों के ठहरने पर पाबन्दी लगा दी है, जो उनके

आचार्यों के चित्रों पर कपड़ा ढकवाने का आग्रह करते हैं। कई स्थानकों में भी इन बातों पर क्लेश कषाय पैदा होने शुरू हो गए हैं।

प्रश्न 17 : प्रवचन के समय साधुओं के भजनों का पुनरुच्चारण बहनें करें, साध्वियों के पीछे भाई बोलें, तो क्या ब्रह्मचर्य में दोष आता है?

उत्तर- ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में वर्णन है कि साधु दीवार या पर्दे की ओट में होने वाले उन नारी शब्दों को ना सुनें, जिनका रतिक्रीड़ा से संबंध हो, विकारकारक हो। इसी आशय को ध्यान में रखते हुए इन शब्दों का विस्तार किया जाता है कि साध्वी वर्ग पुरुषों के द्वारा उच्चारित कामरागोत्पादक शब्दों को न सुनें। लेकिन इस साधारण से संकेत को असाधारण या विकृत बनाते हुए कुछ व्यक्ति इस मुकाम पर पहुंच गए कि भक्ति और वैराग्य-प्रधान गीतों को भी ब्रह्मचर्य भंग का कारण बताने लगे।

साधु जिस गीत को यदि शुद्ध भावना से बोल सकता है और उनके पीछे भाई बोल सकते हैं, तो बहनें बोल दें तो क्या आपत्ति है? क्या नारी के मुख से निकले स्वर साधु के लिए हानिकारक होते हैं? यदि ऐसा मान भी लिया जाए, तो साधु महाराज की सन्निधि में साध्वियों और श्राविकाओं को न प्रवचन की अनुमति मिलनी चाहिए, न भजन, गीत आदि सुनाने की, जबकि ऐसा किसी ने नहीं किया। साधुओं के सामने साध्वियां भजन गाती हैं, प्रवचन सुनाती हैं। श्राविकाएं भी गद्य-पद्य में अपने उद्‌गार व्यक्त करती हैं। ऐसे ही साध्वियों की सभा में, सन्निधि में होता है। जिस प्रतिबंध के पीछे कोई आगमिक आज्ञा नहीं, कोई लौकिक धारणा नहीं, उस प्रतिबंध को लागू करना हास्यास्पद ही लगता है। फिल्मी धुनों पर भजन न गाना, न सुनना फिर भी कहीं समझ में आता है, पर ये व्यवस्था तो समझ से बाहर है।

प्रश्न 18 : प्रवचन सभा में साधुओं की उपस्थिति में साध्वीवर्ग को पट्टे पर बैठना क्या निषिद्ध है? अर्थात् पट्टे पर नहीं बैठना चाहिए?

उत्तर- परिस्थिति विशेष में अपनाई गई व्यवस्था को सार्वकालिक और सार्वभौमिक मान लेने से गलत परंपराओं का सूत्रपात होता है। पट्टों की व्यवस्था इसी भूल का संकेतक है। बहुधा प्रवचन का कार्यक्रम मुनियों के उपाश्रयों में होता है। वहां वक्ता-मुनियों की सुविधा के लिए या तो पट्टे का प्रबंध समाज द्वारा किया हुआ होता है या मुनि स्वयं कर लेते हैं। प्रवचन प्रारंभ होने के बाद साध्वियाँ वहां आ जाएँ तो उस समय तत्काल पट्टे का प्रबंध करना परेशानी का कारण बन जाता है; अत: साध्वियाँ नीचे ही आसन ग्रहण कर लेती हैं, वे स्वयं के लिए पट्टा लाने में भी असमर्थ हो सकती हैं। एक बार लाने, फिर ले जाने के झमेले से बचकर जमीन पर बैठना वे हितकर, सुखावह, सुविधाजनक मानती हैं। इसके अलावा और कोई शास्त्रीय कारण या आगमिक विधान ऐसा नहीं है, जो साध्वियों को पट्टे पर बैठने का निषेध करता है।

वे किसी संप्रदाय विशेष या इलाके विशेष की अपनी परंपरा हो सकती है, न कि आगमिक आदेश। साध्वियों द्वारा साधुओं के समक्ष पट्टे का सेवन न तो आशातना है, न समाचारी का उल्लंघन। पट्टा कोई उच्चता-नीचता का प्रतीक भी नहीं है। किसी मुनि को ये कहने का अधिकार भी नहीं है कि मेरी धर्मसभा में साध्वियाँ पट्टे पर बैठेंगी, तो मैं प्रवचन नहीं करूंगा। ऐसा कहना तीर्थ का अपमान है—**'साहूणीणं आसायणाहै'**। आवश्यकता पड़ने पर श्रावक-श्राविका भी चौकी, कुर्सी, स्टूल पर बैठकर प्रवचन सुनते हैं। फिर महाव्रत-धारिणी साध्वियों के लिए पाबन्दी का तो प्रश्न ही नहीं उठता। मुनिवर्ग किसी व्यक्ति को कहीं बैठने, न बैठने के लिए बाध्य कर ही नहीं सकता, साध्वी-वर्ग को तो बिल्कुल भी नहीं।

यदि ज्येष्ठ कल्प के अंतर्गत ये मानें कि 100 वर्ष की दीक्षिता वयोवृद्धा साध्वी एक दिन के दीक्षित मुनि से कनिष्ठा समझी जाती है तो ये नियम अनेक वर्षों के दीक्षित स्थविरों, आचार्यों, उपाध्यायों तुल्य मुनिराजों के समक्ष सद्य-दीक्षित लघु मुनि पर भी लागू होना चाहिए, वह तो पर्यायवृद्ध गच्छाधिपति के बराबर में भी पाटे पर बैठ सकता है तो फिर साध्वी को separate (कुछ नीचे) पट्टे पर बैठने में क्या आपत्ति है।

प्रश्न 19 : प्रवचन-पूर्व आगम के पृष्ठों को चुचकारना जड़पूजा तो नहीं?

उत्तर- जैन दर्शन में मूलतः जड़ और चेतन की पूजा की भेद-रेखा नहीं थी। किसी भी क्रिया को मिथ्यात्व या सम्यक्त्व के दायरे में तब डाला जाता था जब आत्मकल्याण में बाधक या साधक सिद्ध हो जाती थी या फिर तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित तत्वों के प्रतिकूल-अनुकूल प्ररूपणा होती थी। जड़-चेतन का विभाजन, स्थानकवासी परम्परा के पुनर्जागरण की देन है जिसमें कई महत्वपूर्ण चिन्तनबिन्दु प्रकट हुए, कई अन्धविश्वास विलुप्त हुए तथा तीर्थयात्राएं, मंदिर निर्माण, मूर्ति-स्थापना, रथयात्रा के आडम्बर लुप्त हुए, फिर भी कुछ वस्तुओं के प्रति सम्मान बना रहा। आगम के पृष्ठों को सम्मानीयता की कोटि में रखा गया। आगम हमारा श्रद्धा-केन्द्र, ज्ञानदायक, चारित्र निर्धारक, तपप्रेरक है; अतः वे आगम जिन कागजों पर लिखे हैं, वे कागज भी हमारे लिये सम्मानीय हैं। उनकी आशातना न हो, उनके विपरीत कोई प्ररूपणा न हो, इनका हम पर उपकार अहसान है, इस बात को व्यक्त करने के लिए सिर से चुचकार लिया जाए तो कोई मिथ्यात्व नहीं होना चाहिये। दशवैकालिक सूत्र में गुरु की आशातना से बचने का निर्देश तो है ही, साथ ही उनकी उपधि की आशातना से बचने का भी स्पष्ट उल्लेख है।

संघट्टइता काएणं-तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे-वइज्ज ण पुणुत्ति य॥

शरीर के किसी अंग से गुरुओं की उपधि का संघट्टा हो जाए पैर आदि लग जाए तो गुरु से क्षमा मांगी जाए, अपुनरावृत्ति का आश्वासन दिया जाए। ये जड़ पूजा रूप मिथ्यात्व न होकर शालीनता, शिष्टाचार है।

प्रश्न 20 : साधु-साध्वी द्वारा अन्न पुण्य-पान पुण्य आदि का उपदेश क्या सावद्य प्रवृत्ति का अनुमोदन नहीं है?

उत्तर- प्रभु महावीर ने धर्म के दो रूप प्ररूपित किए हैं—सकारात्मक और नकारात्मक। एक को पुण्य तथा दूसरे को संवर कहा जाता है। अच्छे काम करना पुण्य धर्म है, बुरे काम न करना संवर धर्म है। भगवान की इस

सर्वसंग्राहक दृष्टि को उत्तरवर्ती आचार्य शायद पकड़ नहीं पाए और जैन धर्म का अधिक जोर निषेधात्मक धर्म की ओर हो गया, इसमें कुछ करना ही नहीं था; अत: सरलता थी, क्योंकि करने में तन-मन-धन सब कुछ लगाना पड़ता है। उसे लगाने की तैयारी नहीं थी; अत: सहारा लिया सूक्ष्म दोषों का, जो प्रवृत्यात्मक धर्म में होते हैं। गलती भी वही करता है जो अच्छा करने का मार्ग अपनाता है, जो करता ही नहीं उसके पास यही आश्वासन है कि वह कुछ भी गलत नहीं करता, मगर यह दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं था। इस अस्वस्थ चिन्तन ने जैनों को ऐसा भी संप्रदाय दिया जिसने अच्छा काम करना (पुण्य) भी पाप रूप में पेश कर दिया। इस विपरीत प्ररूपणा का यही परिष्कार है कि साधु समाज गृहस्थों को अपना विधेयक (Positive) धर्म समझाए जिसमें पुण्य भी शामिल है।

प्रश्न 21 : साधु-साध्वी के प्रवचनों में हास्य रस की प्रस्तुति क्या मोहनीय कर्म वर्धक मानी जाए?

उत्तर- यदि प्रवचन सभायें कवि सम्मेलन बनकर रह जाती हों तो मोहनीय कर्मवर्धक कहलाएंगी। यदि रुचि परिवर्तन के लिए, ध्यानाकर्षण के लिए, सरस ढंग से धर्म भाव प्रदान करने के लिये हास्य का पुट दिया जाये तो यह धर्म प्रभावना का बहुत अच्छा ढंग है। धर्मकथा की सरसता धर्म प्रभावना का आधार बनती है। इसलिए सुंदर भजन, मधुर कण्ठ, ऊँची आवाज का होना प्रारंभ से ही उपयोगी माना गया है, संगीत आदि सब साधनों से अधिक शक्तिशाली ढंग है—हास्य प्रहसन आदि का प्रयोग; हास्य नोकषाय है कषाय नहीं है। अत: यदि हास्य से कषायों को बल न मिलता हो तो वर्जनीय नहीं है।

जिस हास्य के माध्यम से किसी का अपमान किया जाता हो, किसी के हृदय में क्रोध भड़कता हो, अपने मन में अहं वृद्धि होती हो तो ऐसा प्रहसन दोषपूर्ण है, अन्यथा यह अतिरिक्त योग्यता है। वह हास्य फूहड़ न हो, प्रासंगिक हो, जबरदस्ती न ठूंसा गया हो, विषय को पुष्ट करता हो अथवा विषय को सुग्राह्य, चिरस्मरणीय बनाता हो तो आपत्ति नहीं है।

प्रश्न 22 : धर्म स्थानकों का निर्माण क्या महाव्रतियों के लिए हो रहा है? उनका कोई भाग निर्दोष मानकर उपयोग में लेना तथा अन्य भाग दोषदार कहकर प्रयोग न करना क्या सही है?

उत्तर- भगवान महावीर के युग में जैनों का श्रावक वर्ग संगठित और संघबद्ध नहीं था, इस कारण कोई भी सामाजिक स्थान जैन मुनियों के लिए निर्मित नहीं होता था। केवल कुछ दानवीर व्यक्ति संत-विशेष के स्थायी निवास के लिए भवनादि का निर्माण करवा देते थे। एक बार मुनि विशेष या मुनि संघ के लिए मकान बनाने के बाद बनाने वाले का कोई अधिकार नहीं रह जाता था। वह मकान संत की या संतों की Property होती थी। जैन मुनि के लिए ऐसे मकान में रहने का निषेध था, लेकिन जैन समाज में जब मंदिरों का निर्माण चालू हो गया, तब उनके रखरखाव और पूजादि की देखरेख के लिए मुनियों ने चैत्यों में रहना प्रारंभ कर दिया। वे चैत्य समाज के अधीन न होकर मुनियों की संपत्ति होते थे। यह अधिकार आगम की भावनाओं के विरुद्ध था। धीरे-धीरे ये चैत्य मठ और गद्दी के रूप में विकसित हो गए। लोकाशाह की क्रांति के बाद भी कुछ सौ सालों तक गद्दी परंपरा बदस्तूर चलती रही। लाहौर, नागौर, अहमदाबाद आदि में लोकागच्छ की गद्दियां थी। लवजी ऋषि आदि पांच महापुरुषों ने गद्दी परंपरा का परित्याग कर ढूंढों में रहना प्रारंभ किया और ढूंढकमत, ढूंढिया पंथ का सूत्रपात हुआ। इस मत के श्रावकों ने फिर अपने समाज के अस्तित्व के लिए स्थानकें बनाईं और स्थानकवासी परंपरा का चलन हुआ। बीच में तेरापंथ ने स्थानकों का जमकर विरोध किया, परन्तु अब उनके यहां भी आधुनिक सुविस्तृत तेरापंथ भवन बनने लगे हैं।

स्थानकवासी परंपरा में भी कुछ संप्रदाय विशेष कुछ स्थानकों को निमित्त दोषपूर्ण मानकर अपरिभोग्य कहती रहती हैं, लेकिन कहीं भी तर्कसंगतता से काम नहीं लिया गया। आज भी कहीं-कहीं स्थानकों के संपूर्ण अंश अथवा कुछ भाग को दोषपूर्ण करार दिया जा रहा है, जो कि बिल्कुल अनभिज्ञतापूर्ण, विडम्बना पूर्ण है। जिस मकान की रजिस्ट्री में साधु-साध्वी का नाम न हो, S.S. Jain Sabha या किसी ट्रस्ट द्वारा जिसका संचालन

होता हो, वह स्थान-निमित्त दोष से सर्वथा वर्जित है। समाज के सामने अनेक कार्य होते हैं - विवाह-शादी, धर्मसभा, अपने आराध्यों को बुलाना, ठहराना, अपने पौषध-सामायिक आदि कृत्य करना, अपनी सामाजिक पहचान बनाए रखना इत्यादि। इन उद्देश्यों के लिए वह छोटे-बड़े, हवादार, रोशनीयुक्त, भिन्न-भिन्न प्रकार के भवन बनवाती है। उनमें ठहरना कदापि वर्जित नहीं है। किसी संघ या संत की संतुष्टि के लिए ये कहना गलत है, मिथ्या है कि ये स्थानक मुनियों के लिए बने हैं, सरल मन वाले व्यक्ति कह देते है कि स्थानक तो संतो के लिए हैं। पर नहीं, वे समाज की आवश्यकता के लिए बने हैं। जैसे सड़के बनती हैं, सड़कों पर पेड़ लगते हैं, गलियों में लाइट्स लगती हैं, वे प्रयोक्ताओं के लिए निर्मित, स्थापित होती हैं, साधु उनमें से कल्पनीय का उपयोग करते हैं। इसी तरह स्थानक भवनों का उपयोग भी अनुमत है।

पुस्तकें छपती हैं पढ़ने वालों के लिए, वस्त्र बनते हैं पहनने वालों के लिए। उनमें गृहस्थ और साधु का उल्लेख नहीं होता, केवल उपभोक्ता के लिए आज प्रत्येक चीज का निर्माण होता है। संत भी उसमें शामिल होता है, उससे पृथक्भूत नहीं होता। इस अपेक्षा से तो अन्य बहुत-सी वस्तुएं भी अग्राह्य हो जायेंगी। स्थानक के कुछ भाग को प्रयोग करना, शेष को छोड़ देना तो पाखण्ड की इन्तहा है, क्या समाज लोहा, सरिया, सीमेंट आदि अलग से मंगवाता है, जिनके द्वारा बरसाती या कमरे बनते हैं, बरसाती तक जाने वाला जीना यदि चढ़ने के लिए प्रयोग किया जाता है तो क्या उसकी सामग्री पृथक रूप से मंगाई जाती है? गृहस्थ वर्ग सर्दियों में कमरों में बैठता, धर्म ध्यान करता है, गर्मियों में बरसाती में बैठता है, उसे साधु-साध्वी से ज्यादा आराम की जरूरत होती है; अत: अलग-अलग कक्ष बनाएं जाते हैं। यदि केवल साधु के निमित्त से स्थानक बनते तो श्रावक को उनमें प्रवेश से पूर्व या पौषध-सामायिक आदि से पूर्व उनसे आज्ञा लेनी चाहिए, जबकि साधु गृहस्थ की आज्ञा लेता है।

कल्पना करें, साधु के निमित्त से आहार वस्तु आदि बने हों और साधु उन्हें ग्रहण कर ले, तो क्या गृहस्थ उन्हें प्रयोग कर सकता है? नहीं, क्योंकि वह

वस्तु साधु की है। इसी तरह जो मकान साधु के निमित्त से बना है, उसका उपभोग गृहस्थ नहीं कर सकता। समाज की सम्पत्ति (Property) के रूप में बने स्थानक को साधु की सम्पत्ति कहना असत्य है। हां, मठ-धाम के रूप में बनी वस्तु को साधु की मानना चाहिए। उत्तर भारतीय स्थानकों में सभी परंपराओं के साधु-साध्वी ठहरते हैं, जबकि इतर प्रांतों (राजस्थान, मध्यप्रदेशादि) के स्थानक अमुक सम्प्रदाय, गच्छ विशेष के लिए ही बनते हैं तथा उन्हीं के काम में आते हैं। उधर बड़े-बड़े स्थानक हैं, उनमें वही संत सती ठहरते हैं जो निमित्तादि की चर्चा ज्यादा चलाते हैं।

प्रश्न 23 : दैनिक समाचार पत्र (अखबार) पढ़ना क्या साधु-साध्वियों के लिए अनुचित और सर्वथा वर्जनीय है?

उत्तर- रागद्वेष की वृद्धि को रोकने के लिए कुछ संकेत भगवन्तों ने दिये हैं। उसी संदर्भ में कथाओं का निरूपण भी हुआ तथा रागद्वेष की संभावित वृद्धि को रोकने के लिए विकथाओं का निषेध भी किया गया। परंतु श्रमण भगवान महावीर ने हर बात को बहुरंगी परिप्रेक्ष्य दिया और कहा कि हर अच्छी समझी जाने वाली बात बुरी हो सकती है तथा बुरी बात अच्छी हो सकती है, जो व्यक्ति हर बात को केवल एक ही पहलू से आकलित करते हैं, वे सत्य से सदा दूर रहते हैं। विकथा का मामला भी एकांगी चिन्तन का शिकार हुआ है। प्रायः सभी कथानुयोग प्रधान आगमों में राजा-महाराजाओं का, नगरी, उद्यान, 72 कलाओं, नारी रूपों, संगीत उपकरणों, पुष्प प्रकारों आदि का इतना अधिक वर्णन उपलब्ध है कि यदि विकथा की संकीर्ण परिभाषाएँ लागू कर दी जाएं तो आगमों में भी विकथा प्रचुर मात्रा में देखी जा सकती है। अकर्मभूमि, अन्तद्वीपों की नारियों का नखशिख वर्णन शायद कामकथा को पछाड़ सकता है, परंतु जैनागमों का सुविशाल चिन्तन हर वस्तु को स्वीकार करता है। वहाँ विकथा का वर्णन भी है, वर्जन भी है, आगम काल के पश्चात् बड़े-बड़े कवि मुनिराज हुए, जिनकी रचनाओं का अध्ययन जैन साधु-साध्वी करते रहे हैं, उनमें सभी प्रकार के रसों का

चित्रण है। वह चित्रण करना और उसे पढ़ना कभी भी वर्जित नहीं रहा है। जब समाचार-पत्रों का युग आया, उसका लाभ भी प्रायः साधु लेते रहे हैं।

समाचार-पत्रों में सर्वविध सामग्री होती है। धर्म का कॉलम प्रायः समाचार पत्रों में आता है। अच्छे-अच्छे समाचार होते हैं जिन पत्र-पत्रिकाओं को धार्मिक कहा जाता है यदि उनकी सामग्री संगृहीत की जाए तथा दैनिक अखबारों की सामग्री संकलित की जाए तो अखबारों में किसी दृष्टि से अधिक उदात्त विचार उपलब्ध होते हैं। बड़े-बड़े ऐतिहासिक, सांस्कृतिक लेख भी होते है, जबकि धार्मिक पत्रिकाओं में अधिकांशतः विष वमन, रागद्वेष प्रदर्शित होता है। अपनी-अपनी संस्था की प्रशंसा तथा प्रतिपक्षियों पर सीधे-टेढ़े कटाक्षों के अलावा उनमें बहुत कम पठनीयता होती है। हालाँकि धार्मिक पत्र-पत्रिकाएँ भी News paper act के तहत ही Registered होती हैं।

जिनकी दृष्टि सम्यक् हो, उसके लिए समाचार-पत्र भी सम्यक् श्रुत है तथा जिनकी दृष्टि मिथ्या है, उनके लिए आगम भी मिथ्या श्रुत है; अतः समाचार-पत्रों से उपयोगी सामग्री मिले तो उनका पढ़ना गलत नहीं है। हां, जिसे समाचार-पत्र पढ़ने से अन्यथा भाव आते हों, तो वह ईमानदारी से समाचार-पत्रों से किनारा कर ले, पर अपनी कमजोरी को सब पर लादना उचित नहीं है।

प्रश्न 24 : गृहस्थों के द्वारा वंदना करने पर साधु-साध्वियों द्वारा उत्तर स्वरूप धर्मलाभ, दयापालो, जी भाया कहना आगमिक है या पारंपरिक?

उत्तर- सर्वप्रथम ज्ञातव्य है कि जैनमुनि किसी के अभिवादन में आशीर्वाद नहीं देते; क्योंकि आशीर्वाद प्रायः भौतिकता की भावना से ओतप्रोत होते हैं, दूसरे आशीर्वाद या अभिशाप फलने का विश्वास जैन धर्म में नहीं है। संत महात्माओं द्वारा अभिवादन की परंपरा भारत में कहीं भी नहीं थी, नमस्कार करने वाले का प्रति नमस्कार यह यूरोपीय सभ्यता है, भारतीय नहीं। अन्यतीर्थक ऋषियों से भिन्न रीति जैन मुनियों ने डाली, उन्होंने गृहस्थों के

लिए 'धर्मलाभ' रूप अभिवादन दिया। उसी धर्म का स्वरूप स्थानकवासियों ने स्पष्ट किया कि 'दयापालन' रूप धर्मलाभ वंदनाकर्त्ता को मिले। तेरापंथ का उदय दया के विरोध में हुआ था; अत: वे उस अभिवादन को अपना नहीं सकते थे तथा धर्मलाभ जैसी पूर्वत्यक्त भाषा को अपनाकर शिथिलाचारी वर्ग के साथ जुड़ नहीं सकते थे, इसलिए उन्होंने बिल्कुल सहज, सर्वगम्य शब्द पकड़ लिया-'जी भाया'। इस शब्द में वंदनकर्त्ता के प्रति गृहीता जाग्रत है, ये प्रतीति हो जाती है और आगंतुक संतुष्ट हो जाता है। दिगम्बर परंपरा में भी 'धर्मवृद्धि' अभिवादन के रूप में बोला जाता रहा है, ऐसा सुनने में आया है।

इतना आवश्यक है कि स्थानकवासियों ने तेरापंथ की प्रतिक्रिया स्वरूप 'दया पालो' नहीं अपनाया अपितु तेरापंथ ने प्रतिक्रिया स्वरूप इसे छोड़ा है। आगमों में मुनि के मुख से किसी प्रकार के प्रत्याभिवादक शब्द का उच्चारण उपलब्ध नहीं है, पर चारों ही शब्दों में शास्त्र और व्यवहार विरोध नहीं है।

प्रश्न 25 : साधु-साध्वी के लिए रात्रि में पैन, Nail-cutter आदि धातुनिर्मित वस्तुएं एवं दवाई आदि रखना क्यों निषिद्ध है?

उत्तर- साधु अल्पोपधि का धारक होता है अर्थात् अपने पास उतनी ही उपधि रखता है जो स्वयं द्वारा वहनीय हो तथा आवश्यक हो। यदि नखछेदनक (Nail Cutter) आदि की जरूरत पड़े तो उसे प्रतिहारिक-पडिहारिक (Returnable) के रूप में लाए तथा काम होने पर लौटा दे। दवाई आदि भी प्रतिहारिक रूप में ही लेने का विधान है। छेद सूत्रों में लिखा है कि दवाई की तीन पुड़िया (खुराक) से ज्यादा लाए तो प्रायश्चित आता है। दवाई को भी आहार रूप मान लेते हैं और रात्रि में साधु को चतुर्विध आहार में सीत मात्र (कणमात्र) भी नहीं रखना और लंबी बीमारी में प्रयुक्त होने वाली दवाइयां हर जगह सुलभ न होने से रखनी भी आवश्यक है। अत: शाम को सूर्यास्त से पूर्व गृहस्थ के घर मोड (वापिस

कर) आते हैं तथा सूर्योदय पश्चात् लाने की स्वस्थ परंपरा पूर्व महापुरुषों ने प्रारंभ की जिसका लक्ष्य था कि उपधिभार न बढ़े।

पश्चाद्वर्ती निर्णायक मुनियों तथा आचार्यों ने धातु-निर्मित प्रत्येक वस्तु को रात्रि में अयोग्य घोषित कर दिया और दवाई की तरह परिहारिक मान लिया। इससे काफी बचाव हुआ है, भले ही अनेकानेक वस्तुएं प्रविष्ट हो गईं, पर इन चीजों का प्रवेश रुका रहा, यह भी हल्की-सी स्वस्थ परंपरा है। अधुनातन प्रकाशित निशीथ सूत्र के एक व्याख्याकार ने Nail-cutter, दंतशोधनक, कैंची, सुई आदि को रात्रि में रखने योग्य सिद्ध किया है। उनके तर्क में भी दम है, लोहे के बर्तन, उनके बंधन पकड़ने के Handle, ढक्कन आदि अपने पास रखने का मूलागमों में निषेध है। भले ही किसी युग में धातुनिर्मित वस्तुएं रात को रख भी ली जाती हों, पर अजमेर, सादड़ी सम्मेलनों में ये नियम निर्धारित हो गए थे तो आज भी उनका पालन लाभकारी ही है।

प्रश्न 26 : साधु-साध्वियों द्वारा बन्द मकानों में भी धुंध के दौरान निजी स्वाध्याय तथा प्रवचन आदि क्यों बन्द रखे जाते हैं?

उत्तर- जैन आगमों में मिहिका (धुंध) को सूक्ष्म स्नेहकाय अर्थात् पानी माना है। वर्षा की बूंदें सीधे तौर पर ऊपर से नीचे गिरती हैं किन्तु धुंध गिरने की बजाय फैलती है। वायु का जहां-जहां प्रवेश हो सकता है, वहां-वहां धुंध का प्रसार हो सकता है; अतः पुराने युग में यह व्यवस्था की गई कि धुंध के समय उपाश्रयों के सब द्वार बन्द रखे जाएं, न कोई व्यक्ति बाहर से अन्दर आये, न कोई अन्दर से बाहर जावे। द्वार खुले रहेंगे तो धुंध का प्रवेश अबाधित रूप से होगा और फिर उसकी विराधना होगी, इस प्रकार गृहस्थ वर्ग के आगमन पर पाबंदी लगने से प्रवचन-वार्त्तालाप स्वतः रुक गया। मुनिवर्ग का बहिर्गमन रुकने से आहार-पानी, गोचरचर्या भी बन्द हो गई। ये बंदिशें इस सीमा तक तो शास्त्रानुमत और तर्कपूर्ण थीं, लेकिन कुछ बंदिशें बाद में और जुड़ी; जैसे-स्वयं आगम का पारायण नहीं करना, परस्पर

वार्तालाप नहीं करना आदि। इनके पीछे आगम-बल कम प्रतीत होता है, केवल एक व्यवस्था का विस्तार अधिक लगता है।

जैसे-जैसे भवनों का स्वरूप बदला, वैसे-वैसे चिन्तन और व्यवहार भी बदल जाता तो अच्छा था, पर ऐसा कम हुआ है। भवनों में शीशों का प्रयोग बढ़ा, रोशनी प्रचुर मात्रा में हो गई। वातावरण की धुंध का अन्दर प्रवेश नहीं होता, और Visibility बनी रहती है। ऐसे में उपयोगी कार्य संपादित हो जाते तो कोई हर्ज नहीं होता। ऐसी स्थिति में अप्काय की विराधना की संभावना नहीं रहती और शासन-सेवा भी हो जाती। मगर इसके लिये सामूहिक-सामाजिक माहौल भी आवश्यक है। ऐसा माहौल बनाने के लिये पहले मुनिवर्ग इस विषय से परिचित हो, फिर समाज को अवगत कराए। फिर सकल संघों की सहमति बने, तब जाकर कोई निर्णय लिया जाए तो ठीक है अन्यथा चर्चा के अलावा कोई फलितार्थ नहीं निकलेगा।

प्रश्न 27 : चातुर्मास मानने की परम्परा कितनी पुरानी है? होली पर स्वीकृति देना क्या आगमादेश है? कई-कई वर्ष पूर्व चातुर्मासों की घोषणाओं का औचित्य क्या है?

उत्तर- जीवन क्षणभंगुर है, भविष्य अनिश्चित है; अतः आगमों में चातुर्मास स्वीकृति के लिए पूर्वनिर्धारण का आदेश संभव ही नहीं, न होली पर और न साल दो साल पूर्व। लेकिन संघ व्यवस्थाओं में भविष्य की योजनाओं को नकारा नहीं जा सकता, जब श्रावकों को लगा कि मुनि वर्ग तो चार माह के लिए रुकते ही हैं, क्यों न उन्हें अपने नगर के लिए निमंत्रित कर लिया जाए? श्रावक संघो के हित के लिए मुनि वर्ग भी इस व्यवस्था से रजामंद हो गये। लगता है कि ये परंपरा संप्रति, सुहस्ती आदि के युग के पश्चात् प्रारंभ हो गई होगी। कोई ऐतिहासिक प्रमाण ध्यान में नहीं है, परन्तु कल्पना बनती है कि मुनियों के नगर निवास के साथ-साथ चातुर्मासों की विनति और स्वीकृति भी चालू हो गई होगी।

कथा साहित्य में भगवान महावीर के संबंध में लिखा है कि शेषकाल में विचरते हुए वे दुइज्जन्तक तापस के आश्रम में आए। कुलपति ने अपने

मित्र-पुत्र होने के नाते आगामी चतुर्मास की विनति की और भगवान ने हाँ भरी। रायपसेणीय आगम में चित्त सारथि केशी श्रमण से श्वेतांबिका नगरी में पधारने की विनति करता है और वे लगभग स्वीकृति प्रदान करते हैं। इन पाठों से प्रतीत होता है कि आगमकार पूर्व स्वीकृति के सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं। 700-800 वर्ष पुराने विज्ञप्ति-पत्र आज भी उपलब्ध हैं, जिनमें किन्हीं आचार्यों से चातुर्मास की विनति की है तथा नगर का सारा नक्शा उसमें चित्रित किया है। इस आधार पर अनुमान लगता है कि चातुर्मास की विनति और स्वीकृति काफी प्राचीन है। होली पर ही चातुर्मास माने, आगे-पीछे नहीं ये धारणा कम तर्कसंगत है। आगमिक धारणा तो हो ही नहीं सकती। जहाँ तक 2-3 वर्ष पूर्व चातुर्मास मानने का प्रश्न है, वह व्यक्ति विशेष की अनुकूलता प्रतिकूलता पर निर्भर है। यदि अन्य साधु-साध्वी वहां चातुर्मास न कर सकें, इस भावना से पूर्व स्वीकृति दी जाती है तो यह रागद्वेष वृद्धि का कारण है और यदि स्थानीय समाज की सुविधा के लिए दी जाती है तो आपत्ति की बात नहीं है।

प्रश्न 28 : दो या तीन स्थानों पर चातुर्मास करना क्या उचित है तथा मध्यवर्ती स्थान से किसी दिशा में अधिकतम गमन कितना अनुमत है?

उत्तर- 10 कल्पों में पर्यूषण कल्प अस्थित कल्प है अर्थात् मध्यवर्ती तीर्थंकरों के मुनियों के लिए वर्ष के चार महीने एक स्थान पर गुजारने का निश्चित विधान नहीं है। पर प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के शासनवर्ती साधु-साध्वियों के लिए यह कल्प अनिवार्य रूप से पालनीय होता है। स्थितकल्प तथा अस्थित कल्प का अन्तर ये होता है कि स्थितकल्प तो हर स्थिति में पालनीय होता है, जबकि अस्थितकल्प परिस्थिति के अनुसार पालनीय या उपेक्षणीय होता है। यदि मध्यवर्ती शासन के मुनि देखते हैं कि वर्षा आदि के कारण मार्ग अवरुद्ध हैं या जीवोत्पत्ति अधिक है, विहार करने से संयम में विराधना की संभावना है तो वे रुके रहते हैं, यदि उन्हें विराधना प्रतीत नहीं होती तो वे विहार भी कर सकते हैं। हालाँकि प्रथम व अंतिम

तीर्थंकर के शासनवर्ती साधक चार महीने विहार नहीं कर सकते चाहे रास्ते बिल्कुल साफ ही क्यों न हों, चाहे उस साल वर्षाभाव ही हो, पर विहार उनके लिए अनुमत नहीं है। उन्हें आगम की आज्ञा का भावनात्मक और शब्दात्मक (in letter and spirit) दोनों रूपों में पालन करना होता है। शब्दात्मक पालन की अनिवार्यता के कारण उनके लिए हर आदेश, हर विधान कानून की धारा रूप होता है और प्रत्येक आदेश-विधान भी कानूनी धाराओं की तरह भिन्न-भिन्न ढंग से व्याख्यायित होते हैं।

चातुर्मास काल में स्थान परिवर्तन की व्यवस्था को भी इसी संदर्भ में समझना पड़ेगा। कल्पसूत्र में उल्लेख है कि चातुर्मास काल में मुनियों को कम-से-कम तीन मकान अपने निश्राय में रख लेने चाहिए ताकि एक मकान में कुछ प्रतिकूलता हो तो दूसरे में ठहर जाए, दूसरे में भी दिक्कत हो तो तीसरे में गुजारा कर ले। इस पाठ के आधार पर चातुर्मास में तीन स्थानों पर जाने का अधिकार मुनियों को प्राप्त हुआ है। इस पाठ को चुनौती नहीं दी जा सकती। हां, चातुर्मास में ये तीनों स्थान 'सक्रोश योजन' की सीमा मे होने चाहिए। सक्रोश योजन की वर्तमान युग में 14 KM व्याख्या की जाती है। अर्थात् एक छोर से दूसरे छोर की दूरी 14 KM के लगभग हो। मध्यवर्ती स्थान से चारों दिशाओं में 7-7 KM की दूरी बनती है। अपने चातुर्मासिक प्रतिक्रमण स्थल से प्रत्येक दिशा में 7-7 किलोमीटर तक मुनि जा सकता है और इस सारी सीमा में तीन स्थानों में वह रह सकता है। अपनी और समाज की सुविधा के अनुसार वह समय का विभाजन कर सकता है। इस प्रक्रिया में कहीं भी आगम विरोध प्रतीत नहीं होता।[3]

प्रश्न 29 : केशलोच जैसी कष्टपूर्ण चीज़ का साधु धर्म के साथ क्या संबंध है तथा आगम में आए पंचमुष्ठि लोच का क्या स्वरूप रहा है?

उत्तर- हर संघ, संगठन की कुछ पहचान होती है जो उसके समग्र इतिहास में प्रवाहमान होती हुई अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखती है। नागा संन्यासियों का नग्नत्व, सिक्खों की कुर्बानियां, मुसलमानों का ताजिया के

दौरान देहदण्डन, हिन्दुओं के यज्ञ आदि न छूटने वाली विरासत है। जैन धर्म यद्यपि अध्यात्मवादी रहा है मगर बाह्य तप पर इसके साधकों का जोर रहा और उस बाह्य तप का कठोरतम चिह्न केशलोच बना। ये अध्यात्म उत्थान में कितना सहयोगी है, ये कह पाना नितांत कठिन है पर इसके परित्याग की कल्पना निकट भविष्य में तो नज़र नहीं आती। पहली बात तो ये कि केशलोच कितना ही कष्टप्रद लगता हो, पर असहनीय की सीमा में नहीं आता। दूसरे जैनों के चारों संप्रदायों में इसकी मंजूरी मिली है; अत: कोई भी संप्रदाय छोड़ने की पहल करके अपने सिर पर कलंक नहीं लगाएगा, तीसरे गृहस्थों का एक वर्ग केशलोच करवाने पर तुला हुआ है, वह लोच न करवाने वाले साधकों को नोच डालेगा।

लोच के साथ पंचमुष्ठि शब्द के पीछे के रहस्य को आगम ज्ञान रत्नाकर भगवन् श्री रामप्रसाद जी म. ने फरमाया था कि पूर्वकाल में प्राय: अधिकतर मानव अपने बालों की पांच शिखाएं बना लेते थे, गुरुकुल में छात्रों को 'पंच शिख कुमार' कहा जाता था। पांच चोटियों में बंधकर बाल न उलझते थे, न परेशान करते थे। बाल लंबे-लंबे अवश्य होते थे। बार-बार काटने का रिवाज नहीं था। उन पांचों ही शिखाओं का, मुष्ठियों का लोच 'पंचमुष्ठिलोच' कहलाता था। सिर पर एक भी शिखा शेष न रहे, उस लोच को 'पंचमुष्ठि लोच' नाम दिया गया।

प्रश्न 30 : दीर्घदीक्षापर्याय वाली साध्वी अल्पदीक्षित साधु को वन्दना करे, क्या यह व्यवस्था पुरुष-नारी समानता की विरोधी नहीं है?

उत्तर- महिला चित्त बहुलता समर्पण प्रधान, श्रद्धामय होता है। वह झुकने में अपनी परिपूर्ण तृप्ति मानता है। जब कभी कोई बालक गृहस्थ त्याग कर साधना मार्ग पर आरूढ़ होता था, साध्वियां भावविभोर होकर नमन करने लगती थीं। कोई युवा दीक्षित होता, तब भी उनमें उमंगें उठतीं और वे अपने को रोक नहीं पाती थीं, बड़ों के प्रति तो उनकी भावना प्रवणता होती ही थी। महिलाएँ-साध्वियाँ अपने त्याग को बड़ा त्याग न मानकर औरों के स्वल्प

त्याग को सिर झुकाकर कृतार्थ होती थीं, एक दिन ही वन्दना करके वे विराम नहीं लेती, अपितु हर बार उन्हें नमन करती थीं। इस प्रकार की समर्पण भावना ने उन्हें वन्दना जैसे महान धर्म का अधिकारी बना दिया और धीरे-धीरे यह भाव एक परम्परा बन गई।

यद्यपि आगमों में स्पष्ट रूप से ऐसा कोई पाठ नहीं है कि साध्वी लघु मुनि को वन्दना करे, पर उस युग की विनयशीलता ने उन्हें विधान से अधिक प्रेरणा दे दी। साधुओं ने कभी मांग नहीं की, शास्त्रों ने कभी आदेश नहीं दिया, पर एक स्वाभाविक प्रथा बनी और आज तक चली आ रही है, आज भी 90% साध्वियाँ इस परम्परा को चलाने के पक्ष में हैं।

आगमों में साध्वियों के लिए केवल आचार्य, उपाध्याय आदि पदों का निषेध किया है। उसके पीछे भी यही कारण हो सकता है कि पदवीधारकों को यदा-कदा कठोर निर्णय लेने पड़ते हैं। साध्वियाँ अपनी सहज कोमलता के कारण कठोर कदम नहीं उठा पातीं तथा कदम उठाने के बाद साधु या संघ के दबाव के आगे उन्हें झुकना पड़ जाए, फिर संघर्षपूर्ण स्थितियों में साध्वी को डालना सामाजिक मर्यादाओं के प्रतिकूल है। आचार्यादि को एकाकीवास भी आवश्यक होता है जो कि साध्वी के लिए न अनुमत है, न उचित। इन सामाजिक कारणों से भी साध्वी को प्रशासनिक पदों से दूर रखा गया, केवल अध्यात्म-साधना में उनकी प्रगति हो, यही आगमकारों का मुख्य ध्येय था। इस व्यवस्था में नारी का अपमान नहीं था अपितु उसके सम्मान की सुरक्षा का भाव था। यदि वर्तमान युग में साध्वियो को ये प्रथा अनुचित लगने लगी है तो वे संयुक्त होकर अधिकारी व्यक्तियों को तैयार करें तथा वन्दना करने, ना करने का सामूहिक निर्णय लिया जाये, न कि कुछ चुनिंदा साध्वियों द्वारा। इसके अलावा ये मसला गृहस्थ वर्ग का न बनाकर मुनिवर्ग द्वारा हल करवाया जाए; क्योंकि गृहस्थ वर्ग में बामुश्किल एक-दो प्रतिशत महिलाएं ही अपना स्तर उठा पाई हैं। स्थानक, मंदिरों के प्रबंधक, प्रधान, मंत्री सब पुरुष ही होते हैं, महिलाएँ महिला मण्डलों की प्रधान, मंत्री तो

बनती हैं, पर 99 प्रतिशत सभाओं में बहनों का दखल नहीं होता। ऐसी स्थिति में साध्वी वन्दना करे, न करे ये प्रश्न अर्थहीन प्रतीत होता है, पर मुनियों को वन्दना लेने का अहं भाव तो छोड़ना ही चाहिए।

प्रश्न 31 : संयमी परम्पराओं द्वारा साधु-साध्वी के फोटो, ऑडियो, वीडियो का निषेध क्यों? इनमें हिंसा-अहिंसा कारण या कोई और कारण है?

उत्तर- स्थानकवासी परम्परा ने आरम्भ-समारंभवर्धक तथा चित्र प्रोत्साहन कारक प्रत्येक प्रवृत्ति पर ब्रेक लगाया है। साथ ही सादड़ी सम्मेलन में Photo पर पाबन्दी लगाई गई। उस समय Photo लेना बड़ा मशक्कत भरा काम होता था तथा नकारात्मक को सकारात्मक बनाने में (Negative को फोटो बनाने में) पानी आदि की विशेष विराधना होती थी; अत: उस पाबन्दी की अत्यन्त आवश्यकता थी, साथ ही Photo की अनुमति देने पर मूर्ति पूजा का खण्डन करते समय संकोच बनता था। अपने सिद्धान्तों के संरक्षण के लिए फोटो पर अंकुश लगाना ही चाहिए था। Audio-Video तो सामान्य Photography का अधिक विकसित रूप है, उससे तो बचना अत्यंत जरूरी है; क्योंकि ये धर्म-प्रचार की बजाय आत्म-प्रचार के साधन अधिक प्रतीत होते हैं। संयमी संघों के लिए इनका प्रयोग निषिद्ध है और होना भी चाहिए।

प्रश्न 32 : साधु के समक्ष कुत्ते-बिल्ली का प्रसंग आ जावे तो क्या साधु दुर्बल का साथ दे या तटस्थ रहे?

उत्तर-जैन धर्म दया प्रधान धर्म है। जैन साधु दया के उत्कृष्ट उदाहरण होते हैं। वे सदैव प्रयत्न करते हैं कि कोई भी प्राणी न मरे। यदि कुत्ता बिल्ली पर आक्रमण करता है तो वह कुत्ते को हटाता है, बिल्ली की रक्षा करता है। यदि वही बिल्ली चूहे को लीलने लगती है तो वे बिल्ली को हटाकर चूहे की रक्षा करते हैं, क्योंकि पहले Case में बिल्ली दुर्बल है, दूसरे में चूहा दुर्बल है। इससे तो ये सिद्ध होता है कि वे किसी प्राणी के प्रति पक्षपात नहीं

करते, वे दुर्बल को बचाते हैं। साधु को तटस्थ रहना नहीं है, जहाँ तक सम्भव हो, सक्रियता के साथ रक्षक बनना है। हाँ ऐसे भी प्रसंग आ सकते हैं कि सक्रियता से कार्यसिद्धि सम्भव नहीं हो पाती हो तो तब उसे तटस्थ भी रहना पड़ सकता है, पर वह केवल विवशता की स्थिति है, उसकी स्वैच्छिक चिन्तनवृत्ति नहीं। साधु के पास हथियार भी नहीं होते, जो वह प्रत्येक हिंसक प्राणी को हिंसा से रोक दे पर अपनी क्षमता के अनुसार वह हिंसक को रोकता है, दुर्बल को बचाता है, रक्षा के प्रसंगों में सदोष-निर्दोष का निर्णय करना काफी कठिन हो जाता है, अत: निर्बल को ही संबल देना पड़ेगा।

प्रश्न 33 : क्या साधु-साध्वी Blood डोनेट कर सकते हैं? जैसे टेस्टिंग हेतु भी देते हैं? क्या स्वयं के स्वास्थ्य व दूसरों के जीवन हेतु Blood नहीं देना? इसमें क्या आरम्भ-समारंभ है?

उत्तर- किसी साधु-साध्वी को Blood की जरूरत हो तो स्वस्थ साधु-साध्वी को स्वयं देना चाहिए। गृहस्थों का नहीं लेना चाहिए; जैसे— साधु-साध्वी स्वयं का आहार-पानी गृहस्थ को नहीं देता, इसी तरह Blood भी नहीं देता। वस्त्र, पात्र, शारीरिक वैयावृत्य की तरह साधु के द्वारा गृहस्थ के लिए रक्त दान भी निषेध के दायरे में आता है।

प्रश्न 34 : छेदोपस्थापनीय चारित्र रूप बड़ी दीक्षा 7 दिन, 4 माह या 6 माह बाद ही दी जाती है या मध्य में भी दी जा सकती है? बड़ी दीक्षा का पाठ सातवें दिन पढ़ाया जाता है या 7 दिन पूरे होने पर आठवें दिन पढ़ाया जाता है?

उत्तर- सामायिक चारित्र की स्वीकृति के बाद छेदोपस्थापन चारित्र में आरोहण का अन्तराल-काल जघन्य सात दिन है। जो साधक अत्यधिक प्रबुद्ध होते हैं, उन्हें जघन्य काल के बाद छेदोपस्थापन चारित्र मिल जाता है। जो मध्यम श्रेणी के साधक होते हैं, उन्हें कहा जाता है कि तुम्हें चार माह तक साधुचर्या में निष्णातता अपना लेनी है। इस बीच जिस दिन आप

योग्य हो जाओगे, उसी दिन आपको दीक्षित कर दिया जाएगा। आगमों में वर्णन है कि यदि कोई गुरु योग्यता प्राप्त होने के बावजूद शिष्य को छेदोपस्थापन चारित्र देना भूल जाए तो वह प्रायश्चित का अधिकारी है। चार महीने तक wait करना आगमकारों का लक्ष्य नहीं है। यदि कोई साधक अतिमंद प्रकृति के कारण चार माह में भी तथाविध तैयारी नहीं कर पाता तो उसे Ultimatum के तौर पर दो महीने का समय और दे दिया जाता है। यदि वह साढ़े चार महीने-पांच महीने में तैयार हो जाता है तो उसे छेदोपस्थापन चारित्र में प्रवेश दे दिया जाता है। छह महीने की अन्तिम तिथि की प्रतीक्षा नहीं की जाती। हाँ, छह महीने पूर्ण होने पर भी साधक तैयार न हो तो उसे गृहवास में भेज दिया जाता है। जघन्य 7 दिन के बाद 10-20-30 आदि किसी भी संख्या वाले दिन दीक्षा देना आगम विरुद्ध नहीं है।

स्थानकवासी सभी परम्पराओं में यह व्यवस्था चलती है। पिता-पुत्र आदि की दीक्षाओं के प्रसंगों पर पर्याय ज्येष्ठता बनाये रखने के लिए ये व्यवस्था सर्वत्र मान्य है। मंदिरमार्गी संघों में उपधान आदि की पूर्णता करते-करते प्राय: 20-30 दिन बाद ही बड़ी दीक्षा होती है। सात दिन बाद तो वहाँ कम ही बड़ी दीक्षाएँ होती हैं। वहाँ चार महीने की Date Fix नहीं होती।

अपनी पंजाब परम्परा में 7 दिन पूरे होने के बाद ही बड़ा पाठ पढ़ाया जाता है। कहीं-कहीं सातवें दिन ही बड़ी दीक्षा दे दी जाती है, जो कि कम जँचती है, 1 तारीख को दीक्षा हुई तो 8 तारीख को बड़ा पाठ अनुमत है, सात तारीख के दिन नहीं।

प्रश्न 35 : साधु-साध्वी को राष्ट्रधर्म के निर्वाह के लिए क्या आधार कार्ड आदि बनवाने की आवश्यकता है? क्या वोट डालना भी राष्ट्र धर्म माना जाए?

उत्तर- राष्ट्र-धर्म का मुख्य भाव ये है कि हम अपने राष्ट्र के साथ बगावत न करें, राष्ट्रीय संपत्ति को नुकसान न पहुँचाएँ, राष्ट्रीय प्रतीकों, ध्वज आदि का अपमान न करें। साधनों का दुरुपयोग न करें। आधार कार्ड तो अपनी

सुरक्षा और सुविधा के लिए उपयोगी है। राष्ट्रनेता उसकी व्यवस्था बनाते हैं; उस व्यवस्था को अपनाना, न अपनाना अपनी इच्छा पर निर्भर है। यदि कोई साधु-सती बनवा भी लेता है तो कोई महापाप नहीं है, बशर्ते उसका उपयोग असाधूचित्त कार्यों में न किया जाता हो, जबकि इसकी संभावना सर्वाधिक है। वर्तमान परिस्थितियों में आधार कार्ड आवश्यक नहीं है, परंतु जब देश में रहने वाले हर व्यक्ति का आधार कार्ड अनिवार्य हो जाए तब पूरे जैन समाज के द्वारा सामूहिक चिंतनपूर्वक निर्णय लिया जाये न कि व्यक्तिगत रुचि से। और वोट का संबंध राष्ट्र से नहीं है, पार्टी के समर्थन और विरोध से है। आप किसी के पक्ष-विपक्ष में नहीं हो, ये साधु का व्यवहार रहना चाहिए। **'अमुयाणं जओ होउ, मा वा होउत्ति णो वए'** गाथांश के माध्यम से दशवैकालिक सूत्र में आगमकार कहते हैं कि यह व्यक्ति-पार्टी जीते, यह नहीं जीते, ये भाषा भी साधु को नहीं बोलनी। फिर वोट की तो गुंजाइश ही नहीं।

प्रश्न 36 : क्या साधु-साध्वी दया-दान की प्रेरणा दे सकते हैं?

उत्तर- दया की प्रेरणा तो साधु साध्वी देते ही हैं, पर दान की बात आते ही विवाद प्रारंभ हो जाता है। पहले तो दान और पुण्य को लेकर भिन्नता स्थापित की जाती है कि दान तो मोक्ष का मार्ग है, पुण्य संसार तक सीमित रहता है, नौ पुण्यों में भी मन-वचन-काय और नमस्कार पुण्य को लेकर सहमति हो जाती है। असहमति पहले पांच पुण्य को लेकर प्रकट की जाती है। पहले पांच भी सुपात्र-कुपात्र के आधार पर उपादेय-अनुपादेय बन जाते हैं। आगे चल कर, हिंसा द्वारा जन्य-अजन्य दो रूप होते हैं। इस बिंदु पर श्रीमद्सूत्रकृतांग सूत्र ग्यारहवें अध्याय की 16 से 21 तक की छः गाथाएं मार्गदर्शन करती हैं। गृहस्थ के कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें साधु एकांत रूप से ना ये कहता है कि ये पूर्ण धर्म है, ना ये कहता कि ये अधर्म है; क्योंकि उनका एक पहलू धर्मरूप होता है तो दूसरा पहलू अधर्मरूप। किसी विशेष कार्य के बारे में ये पूछा जाए कि यह पुण्य है या नहीं तो साधु-साध्वी

एकांत भाषा नहीं बोले। दान की प्रक्रिया में कुछ त्रस स्थावर जीव मर रहे होते हैं, उनकी रक्षा का दायित्व हमारा है, अतः एकांत करणीय ना कहें। जिन प्राणियों के लिए भोजन पानी तैयार हुआ है, हमारे निषेध करने से उनके लाभ में अंतराय पड़ेगी, इसलिए निषेध नहीं करें। एक तरफ सीधा प्राणिवध दिख रहा है, दूसरी तरफ साफ तौर पर किसी की रोटी छीनी जा रही है; अतः प्रशंसा-निंदा दोनों से बचना है।

उन सूक्ष्म संकेतों के बीच एक ही रास्ता बचा है कि मुनि दान-पुण्य का उपदेश दे सकता है, आदेश नहीं। विश्व में कोई धर्म, संप्रदाय, परंपरा या संघ नही है जहाँ दान-पुण्य नहीं होता हो, उस दान-पुण्य का बोध गृहस्थों को आगमों या गुरुओं से ही मिलता है। अतः Practically सब दान-पुण्य का उपदेश देते हैं कुछ प्रकट रूप से तो कुछ प्रच्छन्न रूप से।

साधु-साध्वी को दया-दान-सहयोग में बाधा कुछ नहीं होती। उसके पास दया के लिए दिल है, पर दान के लिए द्रव्य नहीं है। जितना है वह अपने समीपवर्तियों को देता ही है-**'छंदणा दव्व जाएण'** दस समाचारियों में छन्दना समाचारी कहती है कि साधु-साध्वी अपने निश्राय की वस्तु अपने साथियों को ग्रहण करने की विनति करें। सहयोग के लिए ही न्यूनतम दो साधु, तीन साध्वियों का सिंघाड़ा बनाया है; अतः अपनी सीमाओं में साधु-साध्वी दया-दान-सहयोग करते हैं।

प्रश्न 37 : आगम वर्णित साधुचर्या को क्या समयानुसार परिवर्तित किया जाना उचित है परिवर्तन हो तो कितना तथा अपरिवर्तनीय गुण कौन-कौन से हैं?

उत्तर- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की धारणा जैन दर्शन का अभिन्न अंग रही है, इनके संयुक्त रूप को प्रमाण अथवा अनेकांत कहा जाता है तथा पृथक्-पृथक् रूप को स्याद्वाद या नय कहा जाता है। द्रव्य दृष्टि से प्रत्येक वस्तु स्थिर, ध्रुव, एकरूप होती है, पर्यायदृष्टि से उत्पत्ति विनाशात्मक। जबकि सत् का स्वरूप **'उत्पाद व्यय धौव्यात्मक'** है, जैन

दर्शन की यह सर्वांगीण स्वस्थ दृष्टि जैन इतिहास में नहीं उतर पाई। जब परिवर्तन की दौड़ लगी तब मूल तत्व छूट गए और जब मूल को पकड़ने का आग्रह बना तब आवश्यक परिवर्तन नहीं हो पाया। ये सब आग्रह वृत्ति का परिणाम था, पर कुछ परिवर्तन फिर भी हुए तथा मौलिकता भी अखण्ड रही। कुछ परिवर्तनों के नाम-उद्यानवास से नगरों में वास हुआ। एक समय की भिक्षा के स्थान पर अनेक समय की भिक्षा हुई। मौखिक वाचना के स्थान पर आगमों की लेखन परंपरा बनी, लेखन के साथ अनेक प्रकार के उपकरण जुड़े।

मूर्तिपूजन का प्रवेश और निर्गमन हुआ। प्राकृत भाषा का स्थान संस्कृत ने लिया, फिर स्थानीय भाषाएं भी जुड़ीं। लोकाशाह, लवजी ऋषि आदि के बाद और चर्यात्मक परिवर्तन आए। ध्यान छूटा, तपस्या आई, थोकड़ों का प्रवेश हुआ। स्थानकों का निषिद्ध प्रवेश खुला, पिछले सौ वर्षों में कुछ परिवर्तन आवश्यक व सही हुए परन्तु जो अधिक परिवर्तन हुए हैं, वे अधिक तेजी से हुए तथा किसी की निर्धारित सोच के बजाय स्वच्छन्दतापूर्वक हुए। बिजली के प्रवेश ने सब कुछ उल्टा-पुलटा कर दिया। अब साधुओं के निजी आवासों तथा धनसंग्रहों ने परिवर्तनों का नया दौर प्रारंभ कर दिया है। आज के युग में क्या परिवर्तनीय है क्या नहीं, ये निर्णय आसान नहीं रहेगा, क्योंकि सर्वसम्मति किसी पर बननी संभव नहीं। स्वेच्छा के लिए हर व्यक्ति की राय पृथक् हो गई है, अब तो जो परिवर्तन स्वतः हो जाएं उन्हें स्वीकारना पड़ेगा, वैसे प्रयास करना चाहिए कि परिवर्तन की गति जितनी मंद रहे उतना अच्छा है।

❀ ❀ ❀

1. प्रस्तुत विषय में 'प्रासुक पानी की एक अनागमिक विधि' बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित लेख विशेष पठनीय है।
2. राजपिण्ड ग्रहण अग्रहण विषयक बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित 'राजपिण्ड-स्पष्टीकरण' लेख पठनीय है।
3. प्रस्तुत विषय में 'चातुर्मास काल में स्थान परिवर्तन को विहार न समझे' बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित लेख पठनीय है।

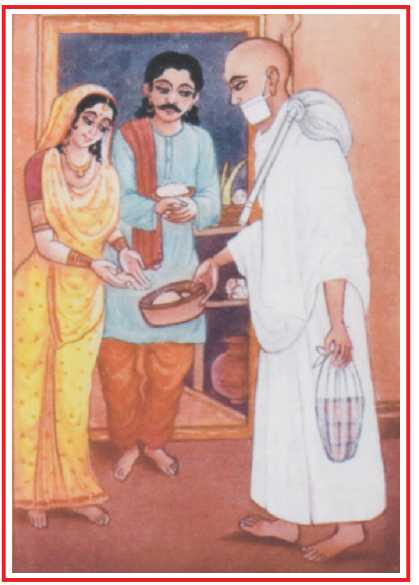

सचित्त-अचित्त एवं ग्राह्य-अग्राह्य

5. सचित्त-अचित्त एवं ग्राह्य-अग्राह्य

प्रश्न 1 : क्या जैल पैन (Gel Pen) मे निगोद की उत्पत्ति संभव है?

उत्तर- कई बार जैन मुनियों में किसी विषय को लेकर इतना आग्रह हो जाता है कि वे सामान्य से सामान्य बुद्धि-ग्राह्य विषय को भी विकृत करके प्रस्तुत कर देते हैं। पैन के विषय में भी ऐसी ही धारणाओं का प्रचार-प्रसार हो रहा है। नाना प्रकार की औषधियां जो जल के मिश्रण से बनती हैं, उनकी अचित्तता को स्वीकार करने वाले जैल पैन को सचित्त कहें तो परस्पर विरोध ही प्रतीत होता है, खांसी आदि की दवाओं (Syrup) में सालों में भी जैसे निगोद नहीं जमती, ऐसे ही Gel Pen के विषय में समझें। फर्श पर पड़े अशुचिकणों से मिश्रित पोचे के पानी को असंख्य जीवों की योनि होते हुए भी अचित्त मानने वाले व्यक्ति जैल पैन को निगोदोत्पत्ति की संभावना कहकर अप्रयोग्य मानें तो आश्चर्य, घोर आश्चर्य ही होता है।

जैल पैन में अनेक Chemical से तैयार स्याही होती है, जिसमें सालों साल जीवोत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे—जल के मिश्रण सहित बनी तरल दवाइयां ग्राह्य हैं, ऐसे ही जैल पैन भी ग्राह्य है। यदि जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व है तो अजीव को जीव समझना भी मिथ्यात्व है; अतः संयम के नाम पर किसी को यह अधिकार नहीं मिल जाता कि वह किसी भी वस्तु में सचित्तता एवं निगोद की धारणा बना ले। अन्य परंपराओं में प्रयुक्त हर वस्तु को असंयम मूलक मानकर अग्राह्य कोटि में डालना भी दुराग्रही वृत्ति का ही परिचायक है, ये भी एक तरह का असंयम है।

प्रश्न 2 : विद्युत सचित्त है या अचित्त, संक्षेप में कैसे समझें?

उत्तर- केवल जैनागमों ने अग्नि को सचित्त माना है। अन्य धर्म और विज्ञान इसे जीवित नहीं मानते। विज्ञान तो लाइफ वहां ही मानता है, जहां Growth हो, Reproduction हो, Sensitivity हो या Metabolism हो। ये सब प्रतिक्रियाएं त्रस में ही संभव हैं, स्थावर में केवल वनस्पति में संभव हैं, अन्य चार में प्रत्यक्ष नहीं; अत: वे अग्नि को जीवित-सचित्त कैसे कहें? अन्य धर्मों ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि को पंच महाभूत कहकर उनके निर्जीवीकरण को ही प्रमाणित किया है। केवल जैनों की जिम्मेवारी है कि अग्नि को जीवित - Living मानें, वह भी आगम प्रमाण से। जो अग्नि को जीवित मानते हैं, उन्हें बिजली को जीवित मानने में कोई समस्या नहीं है। क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के 36वें अध्ययन में अग्निकाय के नाना प्रकारों में विद्युत् को भी गिना गया है- **'उक्का विज्जू य बोधव्वा'** अर्थात् आकाशीय विद्युत् अग्नि का एक रूप है, वही आकाशीय विद्युत् वैज्ञानिक Technology के जरिये उत्पन्न की जाने लगी है। उसके गुणधर्म, क्रिया-प्रक्रिया-प्रतिक्रिया वही के वही हैं, जो आकाशीय विद्युत के। आकाशीय विद्युत् के सिद्धांत का अनुकरण करके ही थर्मल आदि में बिजली तैयार की जाती है और घरों में उसका प्रयोग किया जाता है।

ध्यान देने की बात केवल इतनी है कि बिजली तब ही अग्नि होती है जब वह जल रही हो, ज्वलन-रहित अवस्था में वह अग्नि नहीं है। अग्नि के मुख्य रूप से तीन धर्म हैं-प्रकाश (Lightening), ऊष्मा-गर्मी (Heat), दाहात्मकता (Combustion)। जिस बिंदु पर कोई भी तार या Filament जल रहा हो, चमक रहा हो, लाल हो गया हो, वही बिंदु सचित्त है। इसलिए Spark चिंगारी, Flash चमक, Light रोशनी जहां हो, उसे अग्नि माना, शेष अंशों को नही। करंट में ये गुणधर्म नहीं हैं; अत: वह सचित्त नहीं है।

विद्युत् सचित्त है या अचित्त इसे संक्षेप में इस प्रकार से समझा जा सकता है, यदि विद्युत् का अभिप्राय विद्युत तंरग (Electric Wave) या (Electric Current) से है तो वह अचित्त है; क्योंकि तरंग मात्र में अग्नि के गुण-ताप, प्रकाश, जलना, बुझना नहीं पाए जाते और यदि विद्युत् का अर्थ

विद्युत तरंग से उत्पन्न होने वाली चमक, spark, Flash or Illumination of wires से है तो विद्युत् सचित्त है।[1]

प्रश्न 3 : मंदिरमार्गी परम्परा में प्रकाश को सचित्त क्यों माना जाता है?

उत्तर- मंदिरमार्गी परम्परा बिजली के प्रकाश को ही सचित्त मानती है, सूर्य के प्रकाश को तो वो भी अचित्त मानती है। परन्तु दिन के प्रथम पहर में वे विहारादि करते हुए सिर ढक कर इसलिए चलते हैं; क्योंकि वे समझते हैं कि एक प्रहर तक ओस का प्रभाव वातावरण में रहता है। उसकी विराधना से बचने के लिए सिर ढकते हैं; जैसे–स्थानकवासी मुनि रात्रि को ढकते हैं। उन्होंने बिजली के प्रकाश को सचित्त माना है। स्थानकवासी संघ में भी कुछ संप्रदाय बिजली के अचित्त करन्ट को भी सचित्त मान रहे हैं, वैसे ही वे लोग अचित्त प्रकाश को भी सचित्त मानने लगे हैं।

प्रश्न 4 : पात्र के बाहर उभरी जल की बूंदें सचित्त हैं या अचित्त?

उत्तर- एकेन्द्रिय जीव कब और कहां उत्पन्न होते हैं, इसका कोई प्रत्यक्ष, अनुमान या आगमिक प्रमाण किसी के पास नहीं है। अभी तक जो भी मान्यताएँ हैं, सब परंपरा पर आधारित हैं, न कि आगम आधारित; क्योंकि आगमों में इतना ही उल्लेख है कि जब जल शस्त्रपरिणत होता है, तब अचित्त होता है। पर शस्त्र क्या है तथा कितनी देर तक अचित्तता रहती है, ये किसी आगम में नहीं है। टीकाकारों ने अलग-अलग धारणा दे दी हैं, जिनमें से किसी को कुछ स्वीकृत होती हैं, किसी को कुछ अन्य। स्थूल रूप से उष्णोदक के अलावा हर प्रकार का शीतोदक अग्राह्य रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। **''सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य''** 32 प्रकार के धोवन में भी ''धोवन'' शब्द त्रुटिपूर्ण है। वहां 32 प्रकार का पानक ग्राह्य माना है, न कि पानी। वर्तमान में श्रीमद् दशवैकालिक सूत्र में वर्णित **'उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा'** को ही सचित्त

मानकर चलना चाहिए। काफी नए-नए रूपों में उभरने वाले जल बिंदुओं को सचित्त मानने से समस्याएं बढ़ेंगी।

छद्मस्थों को सर्वज्ञ की भांति प्ररूपणा करने से बचना चाहिए। जैसे पात्र में अतिशीत वस्तु के प्रभाव से पात्र की बाहरी सतह पर पानी उभर जाता है, इसी तरह रोटी के डिब्बे पर अन्दर पानी की बूंदें आ जाती हैं। पानी के पात्रों पर लोना (कपड़ा) आदि लपेटकर जब अन्य पात्रों के बीच रखा जाता है, तब थोड़ी देर बाद लोने से बाहर के तीसरे पात्र में भी पर्याप्त पानी हो जाता है। दही, छाछ वाले पात्रों के बाहर भी ऐसा होता है। बरसात या सर्दी के मौसम में पत्थर, लोहे या अन्य पदार्थों पर आर्द्रता पानी के रूप में प्रकट हो जाती है।

Distilled Water (दवाई के रूप में प्रयुक्त पानी) भी वाष्पीकरण प्रक्रिया से बनता है और उसके संबंध में अचित्तता की धारणा सर्वव्यापक है। गर्म पानी की भाप कुछ ही देर में जल की बूंद बन जाती है। उसे भी किसी ने सचित्त नहीं माना है। ऐसे ही यदि किसी पात्र में अचित्त अतिशीत वस्तु हो और उसके बाहर जलबिंदु हों तो उस पात्र को या अन्त:स्थ पदार्थों को तथा सतहवर्ती बूंदों को सचित्त करार न दें, ऐसा उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न 5 : गीजर का गर्म पानी अचित्त है या नहीं?

उत्तर- गीजर में पानी गर्म हो जाता है; अत: अचित्त है। लेकिन जितना निकलता जाता है, उतना दूसरी side से उसमें कच्चा ठंडा पानी आता-जाता है; अत: उसका आरंभ-समारंभ टालने के लिए अपने सामने निकलवाकर साधु नहीं ले सकता। पर बाहर निकले पानी का स्पर्श पर्याप्त उष्ण है तो उसे अचित्त माना जायेगा। कुछ देर बाद ठंडा होने पर भी ग्राह्य रहेगा। ये ध्यान रहे यदि गीजर का पानी पर्याप्त उष्ण नहीं है तो निकालते वक्त ऊपर से आने वाले सचित्त पानी के कारण मिश्र की संभावना बन सकती है। अत: गीजर के पानी की सचित्तता, अचित्तता या मिश्र स्थिति उसकी उष्णता पर निर्भर करती है।

प्रश्न 6 : फिल्टर का पानी सचित्त है या अचित्त?

उत्तर- फिल्टर में पानी शुद्ध हो जाता है, उसका मैल ही clear होता है, परन्तु वर्ण, गंध, रस, स्पर्श परिवर्तन नहीं होते। संभावना तो ये है कि जलकायिक जीवों की उत्पत्ति के लिए ज्यादा अनुकूलता हो गई। सुबुद्धि प्रधान के दृष्टांत से वह पानी पीने लायक स्वादिष्ट तो हो गया, अचित्त नहीं। अत: हमारी परंपरा में उसे सचित्त मानने की धारणा है।

प्रश्न 7 : तेज गर्मी में धूप से गर्म हुआ बाल्टी या टंकी आदि में रखा पानी क्या अचित्त हो सकता है?

उत्तर- अचित्त हो सकता है पर मुनि ग्रहण नहीं कर सकते। एकेंद्रिय जीवों के विषय में छद्मस्थ कोई निर्णायक भाषा नहीं बोल सकता; क्योंकि यह सारा विषय केवलीगम्य है। भगवान महावीर के जीवन का प्रसंग टीकाओं में अच्छी तरह आता है कि जब भगवान सिन्धुसौवीर की ओर विहार कर रहे थे, तब गर्मी के कारण पूरे तालाब का पानी ही अचित्त हो गया था, तिलों की पूरी गाड़ी अचित्त थी, पर वह तो तीर्थंकर भगवान को ज्ञान था, छद्मस्थों को नहीं; अत: उन्हें ग्रहण करने नहीं दिया। ये भी कहा जाता है कि कई मुनि पानी के परीषह से दिवंगत भी हो गए, पर वह पानी नहीं लिया।

प्रश्न 8 : वर्तमान में प्रयोग किए जाने वाले नमक की सचित्तता अचित्तता के संबंध में संदेह है, आगम व परंपरा में क्या मान्यता है?

उत्तर- दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में कुछ नमकों का वर्णन है तथा उन्हें अग्राह्य कोटि में रखा है,

सोवच्चले सिंधवे लोणे-रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे पंसुखारे य-कालालोणे य आमए॥

इन छह प्रकार के लवणों में से आजकल मुनियों द्वारा दो प्रकार के लवण प्रक्रिया विशेष से गुजरने पर ग्राह्य मान लिए गए हैं। नमक यदि कुछ काल तक घी में डाला गया हो तो वह अचित्त मान लिया जाता है तथा काले नमक की निर्माण प्रक्रिया इस प्रकार की है कि वह भट्टी पर कुछ

वनस्पति उत्पादों के साथ मिश्रित करके तैयार किया जाता है; अत: वह भी अचित्त मान लिया गया है। परन्तु सामुद्रिक नमक पर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है जो कि परम आवश्यक है।

आज लगभग सभी परिवारों में संशोधित नमक ही प्रयोग में लाया जाता है। इस नमक के निर्माण के लिए पहले समुद्र का पानी क्यारियों में भरा जाता है, पानी का पार्थिव भाग जमा हो जाता है, जल आगे बहा दिया जाता है। बचे हुए नमक भाग को मशीनों से साफ किया जाता है, उसे बड़े-बड़े Boilers में उबाला जाता है। कई प्रकार के संशोधनों के बाद नमक खाने योग्य माना जाता है, यदि जरूरत होती है तो उसमें आयोडीन भी मिलाया जाता है। तब वह पैक होकर बाजार में आता है तथा घरों में प्रयुक्त होता है। संभवत: इस प्रकार से वह अचित्त हो चुका होता है, परंतु वर्तमान में निर्णायक मुनियों ने इस विषय की छानबीन नहीं की; अत: पूर्व धारणा के अनुसार ही इसे सचित्त घोषित किया जाता रहा है, पूर्ववर्ती आचार्यों जैसी निर्णय क्षमता की पुन: आवश्यकता है।

प्रश्न 9 : फलों की सचित्तता अचित्तता को लेकर आगम और हमारी परंपरा में कितनी निकटता है?

उत्तर- वर्तमान में सभी संप्रदाय अपने पक्ष को आगमसम्मत सिद्ध करते हैं। हम भी अपनी व्यवस्था को आगमिक ही मानते और कहते हैं। पर किसी भी छद्मस्थ को स्वयं को शत प्रतिशत सही तथा दूसरे को गलत कहने का अधिकार नहीं है। पुराने समय से लेकर आज तक सर्वाधिक विवाद केले को लेकर रहा है। ज्ञानगच्छ के अलावा राजस्थान के लगभग सभी संप्रदाय केले को अचित्त मानते और लेते रहे हैं, परंतु हमारी पंजाब परंपरा केले को सचित्त तथा अग्राह्य मानती रही है। 30-40 साल पहले केले के टुकड़े यदि नमक या चीनी से स्पृष्ट होते थे तो अपने संघ में ग्राह्य थे। बाद में ये निर्णय हुआ कि अन्य फल जैसे अग्नि परिणत लिए जाते हैं, ऐसे ही केला भी अग्नि परिणत ही लेना। पपीता, सेब (बीज रहित) अन्य संघों में ग्राह्य रहे हैं

हमारे यहाँ वर्जित। प्रत्येक फल अग्नि परिणत लिया जाता है वह अग्नि परिणत चाहे cooker तथा पतीली के माध्यम से हो या आधुनिक microwave विधि से हो।

प्रश्न 10 : आगमों में वर्णित ताल-प्रलम्ब का कई परम्पराएं केला अर्थ करती हैं-क्या ये सही है?

उत्तर- बृहत्कल्प सूत्र के प्रारंभ में पांच सूत्र हैं–(1) साधु साध्वी को कच्चा 'तालप्रलम्ब' साबुत (अभिन्न) हो तो नहीं लेना। (2) पर वह कच्चा तालप्रलंब 'भिन्न' (कटा हुआ) हो तो ले सकते हैं। (3) यदि तालप्रलम्ब पका हुआ हो, वह साबुत हो या कटा हुआ हो तो लिया जा सकता है। (4) पर साध्वियां नहीं ले सकतीं। (5) जब तक कि विधि-पूर्वक कटे न हों, हालाँकि विधिपूर्वक कटने पर ले सकती हैं।

इन पांचों सूत्रों का अर्थ उत्तरवर्ती लेखकों ने स्वेच्छा से किया और ये पाठ विवाद का कारण बने।

आजकल 'तालप्रलम्ब' का अर्थ केले के फल से लिया जाता है तथा 'पक्व' का अर्थ प्राकृतिक ढंग से पका हुआ से लिया जाता है। इसके अलावा अग्नि पर गर्म करके पकाया हुआ भी होना चाहिए यह भी माना जाता है। फिर भिन्न और अभिन्न तथा विधि भिन्न का भाव भी अपने-अपने चिंतन, अपनी-अपनी परंपरा के अनुसार किया जाता है। ज्ञानगच्छ और हमारी पंजाब परंपरा उपरोक्त अर्थ मान्य करती है, जबकि राजस्थान की अधिकतर परंपराएं प्राकृतिक ढंग से पके हुए साबुत केले को अचित्त प्रासुक ग्राह्य मानती है। केवल साध्वी के लिए कदली टेढ़ा कटा हो, लंबा कटा न हो, छोटे-छोटे टुकड़े हो, लंबे-लंबे दो टुकड़े न हों।

परंतु प्राचीन भाष्यकारों ने प्रत्येक फल को 'तालप्रलम्ब' कहा है तथा फल ही क्यों वृक्ष के मूल, कंद, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, कच्चा पत्ता, पक्का पत्ता, पुष्प, फल, बीज ये दसों विभाग 'तालप्रलम्ब' द्वारा ग्रहण किए हैं। परन्तु

इनको पक्व, अपक्व, आम, भिन्न, अभिन्न आदि विशेषणों से संपन्न करके समझाया नहीं है। इन सब पहलुओं का निचोड़ ये निकलता है कि पाठों की, उनके अर्थों की अस्पष्टता से अगली पीढ़ी भ्रान्ति का शिकार हो जाती है। व्याख्याकार ये स्वीकार करते ही नहीं कि हमें अर्थ का ज्ञान नहीं है। वे स्वेच्छा से अर्थ कर देते हैं और अगले पाठक सहमति-असहमति के झूलों में झूलते रहते हैं।

मुझे इतना तो समझ आता है कि ताल दक्षिण भारत का पेड़ है। नारियल की तरह ऊंचा होता है। उसका फल भी नारियल की तरह लटकता होगा, उसे ही प्रलम्ब कहा लगता है। संभव है कि वह फल वृक्ष पर पक जाने के बाद अचित्त कहलाया हो, उसमें बीज की संभावना न हो छिलका सूख जाता हो और बाहरी खोल से अन्दर की गिरी पृथक् होने पर श्वसन प्रक्रिया विच्छिन्न होने से अचित्त की धारणा बनी हो तथा परिपक्व होने से पूर्व तोड़ दिया गया हो तो भी ग्रहणयोग्य माना गया हो। हाँ भिक्षुणी को नहीं लेने का कारण Clear नहीं होता। पर ये पांचों सूत्र प्रलम्ब (फल) पर लागू होने चाहिए वृक्ष के दसों विभागों पर नहीं। तथा 'ताल' शब्द सामान्य 'वृक्ष' का वाचक न होकर इस नाम के पेड़ का वाचक ही होना चाहिए। ये भी संभव है कि दक्षिण भारत में साधु-साध्वियों को दाल-भात, रोटी-सब्जी की बजाय नारियल या तत्सम 'ताल' फल अधिक मिलते हों उन्हें लेना, नहीं लेना, कैसा लेना आदि प्रश्नों का समाधान इन 5 सूत्रों में दिया गया हो।

प्रश्न 11 : Dry Fruits सचित्त है या अचित्त?

उत्तर- अधिकांश Dry Fruits के संबंध में सचित्तता अचित्तता स्पष्ट है। पिस्ता, काजू, अखरोट अचित्त हैं, बादाम, मुनक्का सचित्त हैं। बादाम की सचित्तता का प्रमाण है कि भीगने पर इसमें Sprouts बन जाते हैं। इसमें पुनरुत्पादन (Reproductivity) की ताकत है। बादाम के भीगने पर छिलका उतरने के पश्चात्, Roasted या तलने पर या अनेक टुकड़े करने पर अचित्त होने की मान्यता है तथा मुनक्का में बीज हैं, यह बीज निकलने पर

ग्राह्य है। किशमिश के विषय में अपना संघ सचित्त की मान्यता रखता है कुछ संघ अचित्तता की। कुछ किशमिश तो विशेष process से गुजरकर आती हैं। वे अचित्त हो सकती हैं पर बहुत सारी बिना process के ही बाजार में आ जाती हैं, उन्हें सचित्त मानना चाहिए। हाँ यदि अंगूर की कोई जाति seedless हो तो उससे बनी किशमिश भी अचित्त हो सकती है, पर इसके लिए बहुत detail में जाना पड़ेगा।

पिस्ता, अखरोट भूनकर ही बाजार में बिकने आते हैं। सीधे रूप से उतरते ही बाजार में नहीं आते; अतः खोल सहित हों या खोल वाले हों या बिल्कुल खोल रहित हों अचित्त ही होते हैं। दूसरी बात, इनकी गिरी पकने के बाद खोल से पृथक भी हों जाती है। पृथक होने से वायुमण्डल से गृह्यमाण श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया का क्रम बंद हो जाता है, इसलिए बिना भुने ही उन्हें अचित्त माना जा सकता है। बादाम की तरह इनमें अंकुरण नहीं होता, इसलिए भी इन्हें अचित्त कहा जा सकता है यही बात मूंगफली के विषय में भी है। छुहारा, खजूर दोनों बीज सहित हों तो सचित्त, बीजरहित हों तो अचित्त। अंजीर में छोटे-छोटे बीज होते हैं; अतः सचित्त हैं, अग्राह्य हैं।

प्रश्न 12 : दही जमाने की प्रक्रिया में जीवोत्पत्ति के संदर्भ में क्या विचार है?

उत्तर- दही के विषय में आजकल की खोजों के कारण बहुत शंका बढ़ती जा रही है; क्योंकि वे दूध के दही रूप परिणमन को Fermentation कहते हैं और इसके दौरान Bacteria का Role मानते हैं, जबकि अपने आगमों के अनुसार उसमें जीवाणुओं का कोई रोल नहीं है। दूध निर्जीव है, जामुन निर्जीव है और दही भी निर्जीव है। अपने आगम के अनुसार तो दही-दूध जब खट्टा, अत्यधिक खट्टा रसचलित हो जाए, तब जीवों की उत्पत्ति होती है और वह अग्राह्य है। Bacteria को हम किस जाति के प्राणी मानें। एकेंद्रिय-निगोद, बेइंद्रिय या पंचेद्रिय? उनमें सुख-दुःख की

अनुभूति भी विचारणीय है, उनकी उम्र कितनी है? इस प्रकार बहुत बातें अस्पष्ट हैं।

वैज्ञानिक दो प्रकार के प्राणी मानते हैं- Plant life and Animal life. Bacteria में दोनों ही गुण नहीं मिलते। कुछ मानते हैं-दोनों के गुण हैं। फिर Bacteria कई प्रकार के Healthy, Unhealthy हैं, दूध में भी वे Bacteria मानते हैं, पानी में भी, रोटी-परांठे में भी। वस्तुतः Bacteria समझ से बाहर की चीज है; अतः आगम का रास्ता ठीक है। जैन धर्म ने जीवन की उपस्थिति को लेकर गहन चिंतन दिया है- पृथ्वी, जल आदि को जीवित माना, सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की धारणा दी। अतः यदि दही में ऐसी संभावना होती तो सर्वज्ञों के द्वारा सचित्त की प्ररूपणा में क्यों संकोच होता; अतः आगम व परम्परा अनुसार दही को अचित्त मानने की ही धारणा है।

प्रश्न 13 : कच्चे दूध या दही के साथ द्विदल-दालें मिल जाएँ तो क्या उसमें तुरंत जीवोत्पत्ति हो जाती है?

उत्तर- दिगम्बर परम्परा में द्विदल और दही के संयोग को जीवोत्पत्ति की योनि माना है। जहां खमीर बन जाए वहां Bacteria पैदा होते हैं, ऐसा विज्ञान मानता है परन्तु स्थानकवासी परम्परा में ये धारणा नहीं है। उड़द की दाल को पीसकर जब खटास मिलाई जाती है, तब उसकी जलेबी या इमरती बनती है, वहाँ खमीर तैयार होता है। अनेक व्यक्ति जीव हिंसा से बचने के लिए इन पदार्थों का त्याग रखते हैं। वैसे ये जीवोत्पत्ति का मामला गहन शोध का विषय है।

प्रश्न 14 : जमीकंद के विषय में आगम की क्या दृष्टि है?

उत्तर- वनस्पति दो तरह की है- साधारण व प्रत्येक। साधारण वनस्पति में अनन्त आत्माओं को एक साझा शरीर मिलता है व प्रत्येक वनस्पति में आत्मा को अपना-अपना पृथक् शरीर मिलता है। आलू, मूली, गाजर आदि की गणना साधारण वनस्पति में होती है। इन्हें जमीकंद भी कहा जाता है;

क्योंकि ये जमीन के अन्दर (नीचे) ही तैयार होते है। घीया, तोरी आदि प्रत्येक वनस्पति के अन्तर्गत हैं।

संख्या को आधार बनाकर एक धारणा उपजी कि साधारण वनस्पति के भक्षण में दोष ज्यादा हैं व प्रत्येक के भक्षण में कम। हालांकि इसके पीछे कोई आगमिक आधार नहीं है कि जमीकंद (साधारण) के भक्षण में ज्यादा दोष लगता है, फिर भी यह धारणा सभी जैन सम्प्रदायों में फैल गई। जैन सन्तों के लिए प्रेरणा का प्रमुख विषय बन गया–जमीकंद त्याग।

कई वक्ता तो इस हद तक पहुंच जाते हैं कि आलू-भक्षण को अण्डा मांस भक्षण सम पापमय बता देते हैं। कई भावुक श्रोता भी इन बातों की सत्यता जाने बिना ही प्रवाह में बह जाते हैं। इससे जमीकंद खाने वालों के प्रति हीनदृष्टि बनती है, किन्तु यह उचित नहीं है। वह हीन दृष्टि अज्ञानताजन्य है; क्योंकि श्वेताम्बर मान्य आगमों में साधु या श्रावक के लिए कहीं भी ''जमीकंद खाना ही नहीं है'', ऐसा विधान नहीं है। वहाँ केवल इतना ही कहा गया है कि जमीकंद हो या प्रत्येक वनस्पति, साधु को कच्ची नहीं लेनी, अर्थात् पकी हुई ले सकता है। साधु-साध्वी पकी हुई ही लेते हैं; अतः भगवान की आज्ञा के आराधक ही हैं।

फिर जमीकंद-भक्षण को महापाप बताना तो आगमकारों की आज्ञा की अवमानना ही है।

कुछ ध्यातव्य आवश्यक बिन्दु-

(i) श्रावकों के लिए एकेन्द्रिय हिंसा खुली ही है; अतः जमीकंद लेने वाले श्रावकों को हीन मानने की अनुमति भी आगम नहीं देते।

(ii) जहां तक सवाल है संख्या का, हिंसा-अहिंसा का मूल आधार संख्या नहीं, संवदेनशीलता होती है। पानी में मक्खी गिर जाए तो दयालु व्यक्ति मक्खी को बचाएगा, जबकि उस एक को बचाने में पानी के असंख्यात जीव आहत होते हैं। असंख्यात अल्पविकसित जीवों को आहत करके कुछ अधिक विकसित जीव को बचाने वाला धार्मिक

ही कहलाएगा, पापी नहीं। 'संख्या अधिक, तो पाप अधिक' यह मान्यता जैन धर्म की नहीं, हस्ति-तापसों की है।

(iii) साधारण वनस्पति के अनन्त जीवों के पुण्य से प्रत्येक वनस्पति के एक जीव का पुण्य ही अनन्त गुणा अधिक होता है; अतः यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक वनस्पति के भक्षण में साधारण वनस्पति के भक्षण से ज्यादा दोष है। पर हां, पापी या महापापी उसे भी नहीं कहना।

(iv) जमीकंद की अपेक्षा प्रत्येक वनस्पति सृष्टि, पर्यावरण आदि के लिए अधिक उपयोगी है। इस दृष्टि से भी प्रत्येक वनस्पति के भक्षण में अधिक दोष कहा जा सकता है।

इसके साथ-साथ यह भी सच है कि जो जमीकंद के त्यागी हैं, वे भी अनन्तकायिक वनस्पति के त्यागी नहीं हैं; क्योंकि प्रत्येक वनस्पति में भी जहां-जहां नूतन विकास है, वहां-वहां अनन्त जीव होते हैं। अतः जमीकंद खाएं, चाहे न खाएं, पर व्यक्ति अनन्त जीवों की हिंसा तो कर ही रहा है। घरों में निरन्तर प्रयोग होने वाले हल्दी, अदरक भी अनन्तकायिक ही हैं, जिनका प्रयोग जमीकंद का त्याग करने वाले भी लगभग करते ही हैं। पहले गुजरात के अलावा भारत का कोई भी सम्प्रदाय ऐसा नहीं था, जो जमीकंद का प्रयोग नहीं करता था या जिसके प्रत्येक साधु-साध्वी सम्पूर्ण रूप से जमीकंद के त्यागी हों तथा आज भी ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं है; अतः जमीकंद को हौव्वा बनाकर पेश नहीं करना चाहिए। भावुकजनों की भावुकता का लाभ उठाकर उन्हें गुमराह नहीं करना चाहिए। त्यागभावना से या रस-विजय की भावना से त्याग किया जाए तो वह उचित है, फिर वह त्याग चाहे जमीकंद का हो, चाहे प्रत्येक वनस्पति का।[2]

प्रश्न 15 : लहसुन, प्याज की अग्राह्यता का आधार क्या है?

उत्तर- आगम ज्ञान रत्नाकर, भगवन् श्री रामप्रसाद जी महाराज ने सूत्रकृतांग सूत्र की एक गाथा में **'जे मंसं लसुणं च भोच्चा अनत्थवासं परिकप्पयंति'** की व्याख्या करते हुए फरमाया था कि जो व्यक्ति मांस और

लहसुन का भोजन करते हैं, वह अनर्थवास (नरक) की तैयारी करते हैं। इस गद्यांश में पंचेद्रिय और एकेंद्रिय का साथ-साथ पाठ ये ध्वनित करता है कि पूर्वकाल में लहसुन का प्रयोग मांसाहारी व्यक्ति ही करते थे, शाकाहारी व्यक्तियों को लहसुन के सेवन की आवश्यकता बहुत कम पड़ती थी। शाकाहार मनुष्य का प्राकृतिक भोजन है, मांसाहार उसके शरीर की प्रकृति के प्रतिकूल है। मांसाहार को हजम करने के लिए तेज मसालों की जरूरत पड़ती है। लहसुन एक प्रकार का मसाला है, यह कोई शाक-सब्जी नहीं है, अपितु पाचन तंत्र को तेज करने की औषधि है; अतः लहसुन मांसाहारी वर्ग में अधिक प्रयुक्त होने से हेयकोटि में आ गया और लहसुन व मांस का संयोग-सा बन गया। अन्यथा जैन धर्म में लहसुन का सेवन पूर्णतः निषिद्ध नहीं रहा है।

आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कंध में तिरछे कटे होने पर इक्षु की तरह लहसुन का ग्रहण मुनि के लिए अनुमत हुआ है। इस अध्ययन में आम्र, इक्षु एवं लहसुन का जो ग्रहण प्रतिपादित किया है, वह प्रारंभ से ही विवादित रहा है। निर्युक्तिकारों ने तो ये भी कहा है कि किसी मुनिराज को कोई रोग का कारण हो और इन वस्तुओं की गंध से उस रोग से राहत मिलती हो तो उन खेतों में जाकर रह सकता है; क्योंकि गले, नाक आदि की बीमारियों में गंध काम आ जाती है, इससे आगे निर्युक्तिकार भी मौन हैं तथा किसी-किसी ने लहसुन का अर्थ 'आम' जैसी कोई प्रत्येक वनस्पति भी किया है। शब्द अनेकार्थक होते हैं, इस आधार पर ये मान्यता भी स्वीकार की जा सकती है। जो परम्पराएं जमीकंद के त्याग पर अधिक बल देती हैं, उनके लिए पाठ काफी परेशानी का कारण बनता है। परेशानी तो हमें भी है, पर उन्हें दोहरी है, हमें इकहरी; क्योंकि तिरछे कटे होने का भाव इक्षु आम में तो फिर भी स्पष्ट हो जाता है, किंतु लहसुन में तिर्यक् छिन्नता का स्वरूप नहीं बन पाता। लहसुन कब प्रासुक बनता है, ये अब तक clear नहीं है पर लहसुन का ग्रहण निषिद्ध नहीं है, इतना तो साफ है। व्यवहार दृष्टि से न लें, ये बात अलग है पर आगमिक बाधा नहीं है।

प्याज का आकार भी लहसुन जैसा होने से वह त्याज्य माना जाने लगा। धीरे-धीरे इन दोनों वनस्पतियों को तामसिक भोजन कहकर ठुकराया जाने लगा। बाद में जैन समाज में जब जमीकंद का विरोध प्रारंभ हो गया तो इन दोनों की अग्राह्यता पर मुहर लग गई। अब तो इनके संबंध में निंदा और जुगुप्सा का भाव उत्पन्न कर दिया गया है; अत: इनको लेने वाला धर्मध्यानी श्रावक भी लांछित हो जाता है। साधु-साध्वी के बारे में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि ये प्याज-लहसुन आपवादिक रूप में भी लेते होंगे। अब ये आगमिक विषय न रहकर सांस्कृतिक परंपरा बन गई है। संस्कृति की भी अपनी एक महत्ता होती है; अत: आगमों द्वारा निषेध न होते हुए भी साधु-साध्वी को इनका वर्जन करना चाहिए। यदि किसी घर-परिवार में इनका प्रयोग हो तो उन्हें लज्जित भी नहीं करना चाहिए। वे परिवार कोई बहुत बड़ा अपराध नहीं कर रहे। उन युवकों पर तो पाबंदी लगनी ही नहीं चाहिए, जिन्हें दूरदराज Hostels में रहना पड़ता है या सफर में रहते हैं या विदेश भ्रमण करना पड़ता है।

प्रश्न 16 : विगय या महाविगय का भाव क्या है तथा उनकी ग्राह्यता-अग्राह्यता का आधार सचित्तता-अचित्तता है या अन्य कुछ?

उत्तर- विगय का मूल शब्द है–विकृतिकारक भोजन तथा महाविगय का भाव है–अधिक विकृतिकारक भोजन। दूध, दही, घी ये Animal Products हैं। उनसे शरीर में पौष्टिकता बढ़ती है। भोजन में गरिष्ठता का मुख्य तत्व ही तेल होता है, साथ ही मिठाई बनाने में मीठे का योग रहता है। तलने पर नमक भी सहायक तत्व बनता है, पर नमक स्वतंत्र नहीं खाया जाता, जबकि मीठा स्वतंत्र भी खाया जाता है। वर्तमान काल में 40 साल की आयु के बाद Animal Products को कम करने या छोड़ने पर जोर दिया जाता है; क्योंकि उन्हें हजम करने की क्षमता शरीर में घटने लगती है, जबकि आगमों में युवावस्था में ही इन्हें कम करने का संकेत है। उनके अधिक सेवन से मनोविकार बढ़ने की संभावना रहती है। आगम में विगयों के वर्जन का

संकेत भी है तो सेवन की अनुमति भी है। **'दुद्ध दही विगईओ आहारेइ अभिक्खणं'** इस पाठ में संतुलन है; क्योंकि इन विगयों का अधिक और पुन-पुनः सेवन निषिद्ध किया है, पूर्णतः निषेध नहीं है।

जहाँ तक मक्खन को महाविगय की श्रेणी में रखा गया है, उसके पीछे कुछ अन्य कारण प्रतीत होते हैं। नवनीत, मधु, मद्य, मांस ये चार शब्दों में तीन तो हिंसा के कारण अभक्ष्यता की स्पष्ट सूचना देते हैं। मांस स्पष्टतः पंचेन्द्रिय वध से प्राप्त होता है। मद्य मांस का सहयोगी है ही, मधु (Honey) में चतुरिन्द्रिय मक्खियों का अधिक वध होता था; अतः वह भी अभक्ष्य हो गया और रही बात नवनीत की तो 'नवनीत' का स्वरूप भी संभवतः ऐसा ही रहा था। पशु की चर्बी को मथकर नवनीत तैयार होता था। वह नवनीत ही महाविगय की कोटि में डाला होगा ना कि दूध दही से बनने वाला मक्खन। मक्खन में दो ही तत्व होते हैं—घी तथा छाछ। छाछ पेय है, घी ग्राह्य है (भले ही अल्प) फिर मक्खन में अभक्ष्यता क्यों मानी जाए; अतः नवनीत की उत्पत्ति का हिंसा प्रधान रूप ध्यान रखना ठीक रहेगा। दिगम्बर परम्परा के पश्चाद्वर्ती ग्रन्थों में नवनीत में निरन्तर जीवोत्पत्ति होने का सिद्धांत प्रतिपादित किया है परन्तु कौन-से जीव उत्पन्न होते हैं—ये अस्पष्ट है, संभवतः दिगम्बर परम्परा के अनुकरण पर ही श्वेताम्बर परम्परा में ऐसी धारणा बनने लगी तथा इसका सेवन निषिद्ध किया जाने लगा। परन्तु ये विषय (मक्खन-विषयक) और अधिक अनुसंधान की अपेक्षा रखता है।

❀ ❀ ❀

1. प्रस्तुत विषय में आगम ज्ञान रत्नाकर भगवन् श्री रामप्रसाद जी म० द्वारा लिखित सुविस्तृत वैज्ञानिक लेख 'विद्युत सचित्त या अचित्त' विशेष पठनीय है।
2. जमीकंद विषयक बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित सुविस्तृत लेख 'जमीकंद की ग्राह्यता और अग्राह्यता की समीक्षा' विशेष पठनीय है।

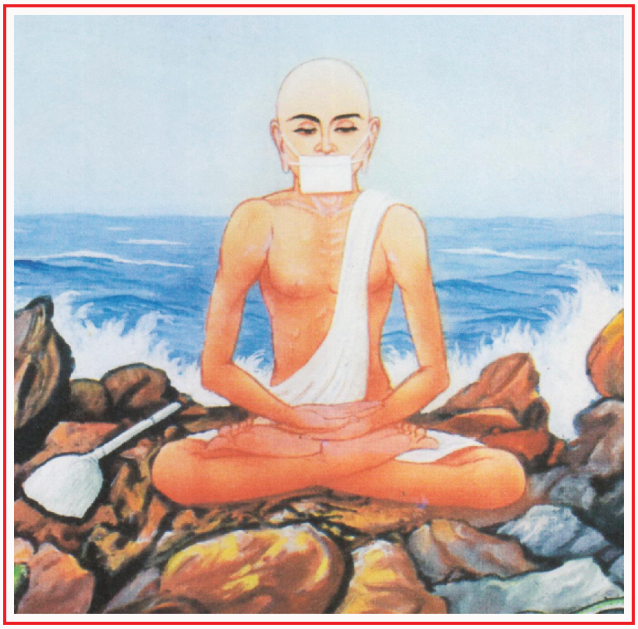

तप के विभिन्न प्रकार

6. तप के विभिन्न प्रकार

प्रश्न 1 : क्या पौषध में चउव्विहार-तिविहार दोनों विकल्प संभव हैं?

उत्तर- तपस्या के संबंध में जैनागम सदा ही अप्रतिबद्ध रहे हैं। पहली बात ये कि तपस्या को साधु या श्रावक के लिए अनिवार्य घोषित नहीं किया। श्रावक को तपस्या से काफी मुक्त रखा गया है। साधु-साध्वी को भी संयम की ओर अधिक, तप की ओर कम प्रेरित किया गया। पौषध आदि का स्वरूप भी इसलिए लचीला रहा है। प्राचीन मुनियों की अधिकतर तपस्याएं जल-रहित होती थी, इसी तरह श्रावकों के पौषध भी जल-रहित होते थे। ये एक परंपरा थी, न कि आगमिक आदेश। परंपराएं परिवर्तनशील होती हैं, आदेश अपरिवर्तनीय। इसीलिए पश्चाद्वर्ती काल में मुनिवर्ग में; जैसे–व्रत बेला, तेला या बड़ी तपस्याओं में पानी का प्रयोग अनुमत हो गया, इसी प्रकार श्रावकों को पौषध-व्रत में भी पानी की अनुमति मिल गई।

विशेषावश्यक भाष्य जैसे आगम-समर्थक ग्रंथ ने संथारे भी तिविहारी और चउव्विहारी दो प्रकार के स्वीकार कर लिये हैं, फिर पौषध को तो द्विविध मानने में काफी सुविधा है, परंतु जल-सहित पौषध को दसवां या 'अप्रतिपूर्ण' विशेषण नहीं देना चाहिए। उसे केवल तिविहार पौषध कहा जाए। अप्रतिपूर्ण पौषध चार प्रहरी पौषध को कहा जाए तथा 'दसवां' विशेषण दया और संवर के साथ प्रयुक्त किया जाए, न कि पौषध के साथ। अतः तिविहार व चउव्विहार दोनों तरह के पौषध मान्य हैं।

प्रश्न 2 : आचारांग सूत्र में पाणं में सभी पेय पदार्थ दूध आदि शामिल हैं तो तिविहार में दूध आदि का त्याग क्यों होता है?

उत्तर- पाणं शब्द का दो अर्थों में व्यवहार होता आया है- (1) केवल जल (2) पेय पदार्थ, जैसे भगवान महावीर की तपस्या का उल्लेख होता है तो उसमें 'अपाणएणं' शब्द पानी का सूचक है एवं पच्चक्खानों के पाठों में भी असणं पाणं शब्द पानी का वाचक है। वैसे पाणं शब्द व्यापक भी है, संकुचित भी है, भोजन में 'पाणं' पेय तक विस्तृत है, त्याग में पानी तक संकुचित होता है। पानक शब्द तो पेय, Soft Drink, शिकंजी, कांजी आदि के अर्थ में स्पष्ट है ही। पाणं में कोई विगय सम्मिलित नहीं है, जबकि दूध विगयों के अंतर्गत आता है, फिर तो दूध को सम्मिलित करते-करते छाछ, पतली दही भी ग्राह्य हो जाएगी; अतः तप के वर्णन में 'पाणं' का अर्थ मात्र पानी ही करना चाहिए।

प्रश्न 3 : नीवी व आयम्बिल का शब्दात्मक व परम्परागत स्वरूप क्या रहा है तथा आगमों में क्या स्वरूप वर्णित है?

उत्तर- ''नीवी'' शब्द का मूल है निव्विगय अर्थात् निर्विकृत, पाँच विगयों का त्याग, विगयों में दूध-दही-घी का सर्वथा वर्जन होता है। जैसा कि अंतकृतदशांग सूत्र में दीर्घ तपस्या के पारणों में **''निव्विगइं पारेइ''** लिखा है, उसका भाव ये है कि पारणे में उन्होंने विगय नहीं लगाया। इस शाब्दिक व्याख्या का विस्तार संकोच कितना भी किया जा सकता है। अपनी परम्परा में नीवी और आयम्बिल लगभग समान हैं, अन्तर ये है कि आयम्बिल में रूक्ष भोजन पानी के साथ ग्रहण किया जाता है और नीवी में छाछ के साथ, जबकि राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र आदि में नीवी में हर चीज ग्रहण की जाती है केवल विगय छोड़े जाते हैं। हाँ, विगय त्याग में साक्षात् विगय तो छोड़े ही जाते हैं, विगय का सम्मिश्रण जिसमें हो वह पदार्थ भी छोड़ा जाता है। विगय का त्याग दो प्रकार से—द्रव्य विगय त्याग और धार विगय त्याग होता हैं। जिस पदार्थ में विगय द्रव्य का परिवर्तित रूप भी प्रविष्ट हो, उसे

छोड़ना द्रव्य विगय त्याग हैं, जबकि धार विगय में विगय का केवल एक ही मुख्य रूप छोड़ा जाता है बदला हुआ रूप गृहीत होता है।

आयम्बिल शब्द का मूल "आचाम्ल" है जिसका अर्थ किया जाता है—उबला हुआ भोजन। अपनी परम्परा में सिका हुआ, उबला हुआ तथा भुना हुआ अन्न (केवल एक या दो) पानी के साथ अनुमत है। अन्य स्थानों पर अनेकानेक द्रव्य चलते हैं, गुजरात में तो 10-20 द्रव्य उनमें नमक (सिका हुआ) भी चलता है। ढोकले, चटनी तथा अन्न के सूप भी चलते हैं।

आगमों में तो केवल दो शब्द हैं—नीवी और आयम्बिल। उनकी व्याख्या उपलब्ध नहीं है; अत: विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से व्याख्या कर दी है।

प्रश्न 4 : आयंबिल में भुट्टा ले सकते हैं क्या?

उत्तर- भुट्टा, जब तक उसके बीज कच्चे हैं, रसदार हैं, गीले हैं, तब तक वह फल के रूप में होता है; अत: आयंबिल में अग्राह्य है परन्तु जब वह पककर मकई के रूप में प्रयुक्त होता है, तब वह अनाज कहलाता है, उस अनाज को भूनकर, उबालकर, पीसकर रोटी की तरह आयंबिल में लिया जा सकता है। जैसे काले चने का कच्चा रूप होला (छोलिया) फल है, ऐसे ही भुट्टा भी फल स्वरूप है। इसी प्रकार sweet corn फल रूप है, वह भी आयंबिल में अग्राह्य है। चने का परिपक्व रूप 'अन्न' है, ऐसे ही मकई का बीज अन्न है। आयंबिल में बिना घी की रोटी, फीके चावल, मुरमुरे, भुने हुए चने, उबले चने आदि पदार्थों का प्रयोग बहुलता से होता है।

प्रश्न 5 : ओली तप के पीछे क्या धारणा है?

उत्तर- ओली तप की शुरुआत सनातन धर्म के नवरात्रों में होने वाले भागवत कथा या शक्ति पूजा का विकल्प है। हिंसाप्रधान लोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए नाना प्रकार के अशुद्ध अनुष्ठान करते थे। प्रसिद्धि अधिक होने से जैन जनता भी उधर आकर्षित होती होगी, उन्हें उस मार्ग से हटाने के लिए नवकार मंत्र के 5 पद +4 ज्ञान दर्शनादि जोड़ दिए और उसके सिद्ध चक्र आदि अनुष्ठान कराए जाने लगे। श्रीपाल मैनासुंदरी

की कहानी चली और आज मन्दिरमार्गी तथा स्थानकवासी दोनों समाजों में चालू है। स्थानकवासी परंपरा ने उसका केवल तप और जप पहलू तो बचा लिया, शेष छोड़ दिया। तेरापंथ का पता नहीं कि वे मानते हैं या नहीं। इन नौ दिनों में नवकार के 5 पद+ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप रूप नवपद की आराधना की जाती है और आयंबिल तप बड़ी संख्या में श्रावक-श्राविकाएं करते हैं और किन्हीं भी दिनों को निमित्त बनाकर यदि जप-तप में अभिवृद्धि होती है तो बुरा नहीं, अच्छा ही है। नवरात्रों की साश्रव तपस्या की अपेक्षा संवर युक्त निर्दोष तपस्या उपयुक्त है।

प्रश्न 6 : तपस्या में तेल आदि की मालिश क्या आहार नहीं है?
उत्तर- तेल लेपन रोमाहार है, जबकि तपस्या में कवलाहार का त्याग होता है। तप के दौरान आंख-कान में दवाई डाली जा सकती है, कच्चे या प्रासुक पानी से हाथ-पैर धोए जा सकते हैं। माथे पर गीली पट्टी आदि लगाई जा सकती है, चंदन आदि लगाया जा सकता है पर इंजेक्शन लगाना निषिद्ध है, यह एक प्रकार का कवलाहार है।

प्रश्न 7 : आयंबिल तप की आराधना से द्वारिका दहन टलता रहा। इस कथानक में कितना सार है?
उत्तर- यों तो प्रत्येक तप कर्मनिर्जरा का उपाय माना है। आयंबिल को अधिक कारगर इसलिए मान लिया गया, क्योंकि इसमें रसना विजय का पुट भी है। सामान्य मानव को कर्मबंध, कर्मनिर्जरा जैसे विषयों के प्रति अधिक रुचि नहीं होती। उसे तो आर्थिक, पारिवारिक, व्यापारिक, भौतिक समस्याएं ही वास्तविक नजर आती हैं तथा उनका समाधान वास्तविक समाधान। उन समस्याओं का निपटारा वह अपने स्तर पर करने का प्रयास भी करता है पर समाधान एकदम तो नहीं होता, अपने प्रयासों के साथ उसे अन्य ऐसे मौकों पर धर्मगुरु कभी मालाजाप तो कभी तप बता देते हैं और तपों में भी आयंबिल। अतः उसकी श्रद्धा को पुख्ता बनाने के लिए आयंबिल की महिमा वर्णित करनी जरूरी है। उस महिमा वर्णन में द्वारिका दहन निवारण की बात पूर्वाचार्यों ने बताई जो सर्वत्र प्रचलित हो गई। कथानकों का कथ्य

और सत्य भिन्न-भिन्न हो सकता है; अतः भाव को ही पकड़ें तो अच्छा रहेगा। द्वारिका दहन की पूर्व घोषणा अन्तकृतदशांग सूत्र में भगवान अरिष्टनेमि के मुखारविंद से हुई है। उसके बाद का सारा घटनाचक्र अन्यान्य ग्रन्थों में मिलता है। हमारा अधिकांश कथाभाग आगमों से भिन्न प्राचीन ग्रंथों में ही मिलता है और उसे मान्य किया जाता है; जैसे- भरत बाहुबली 98 भाइयों के प्रसंग, महासति चन्दनबाला की जीवनी, भगवान पार्श्वनाथ कमठ के प्रसंग। सच्चाई तो केवलीगम्य है, धारणा पुरानी है; अतः आयंबिल तप की महत्ता के संदर्भ में द्वारिका रक्षा एक अच्छा उदाहरण दिया जाता रहा है। परन्तु ये आगमिक कथन नहीं है, ये बात भी स्मृति में रहे।

प्रश्न 8 : अमुक तप से इतने बुरे कर्म टूटते हैं अन्य तप से इतने, इन धारणाओं के पीछे क्या तर्क है?

उत्तर- मुनि के संयम पर्याय का एकवर्षीय chart भगवती आदि सूत्रों में मिलता है। ये वर्णन भी मिलता है कि नारकीय जीव इतने सालों में जितने कर्म खपाता है, सम्यक् दृष्टि साधक उसकी तुलना में उतने पलों में कर्म नष्ट कर देता है। इस तरह की आगमोक्त प्रतिपादनाओं का आधार लेकर पश्चात्वर्ती लेखकों ने व्रत, आयंबिल, बेले, तेले, नवकारसी, पोरसी आदि से कर्म क्षय का chart बना दिया। पर ये तथ्य भुला दिया कि उन तपों से पूर्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र की भूमिका का होना भी जरूरी है। केवल कुछ श्रद्धालु लोगों से तथाविध तप करवाना ही ध्येय बन गया। करने वालों की अन्य तथाविध योग्यता, अयोग्यता का चिंतन ओझल हो गया और कर्म निर्जरा में तो भावों की तरतमता ही ज्यादा महत्वपूर्ण है; अतः अमुक तप से इतने कर्म क्षय होंगे, ये कहना कठिन है।

❀ ❀ ❀

आगम समीक्षा

7. आगम समीक्षा

प्रश्न 1: 32 आगमों के रचनाकार तथा रचनाकाल विषयक क्या मान्यता है?

उत्तर- विशेषावश्यक भाष्य जैसे प्राचीन ग्रन्थों में ये मान्यता है कि द्वादशांगी (जिसमें 11 अंग शेष हैं) ही तीर्थंकरों द्वारा फरमाई गई और गणधरों द्वारा सूत्रबद्ध वाणी ही आगम है। बाकी सब आगम पश्चाद्वर्ती स्थविरों ने बनाए और उनका मूलाधार द्वादशांग ही रहा; जैसे–दशवैकालिक का अधिकांश भाग आचारांगसूत्र से लिया गया है। सम्पूर्ण 10 पूर्वधारी की रचना ही आगमकोटि में रखी गई उससे न्यून नहीं, 14 पूर्वी से उतरकर 10 पूर्वी तक को श्रुतकेवली माना है तथा तब तक सम्यक्त्व नियमा होती है, बाद में भजना से होती है। इस आधार पर ये माना जाना चाहिए कि आर्य वज्र तक जितने आगम रचे गए, वे सब अंग बाह्य की कोटि में आए, बाद में उनका उपांग, छेद, मूल आदि के रूप में वर्गीकरण कर दिया। 'मूल' शब्द से तात्पर्य है- अनेकानेक आगमों के विश्लेषण को समझने के लिए, संयम जीवन के लिए, तत्वज्ञान के लिए तथा पांच ज्ञान की मौलिक जानकारी के लिए ये आगम सर्वाधिक उपयोगी आधारभूत हैं, ये मौलिक आगम हैं; अतः नाम मूल सूत्र पड़ गया। उत्तराध्ययन सूत्र लगती तो भगवान महावीर की अंतिम वाणी ही है, परंतु इसका प्रणयन अन्य स्थविरों ने किया और फिर बाद में सबका संकलन कर दिया गया।

उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक स्थविर की रचना नहीं लगती। इसका अधिकांश भाग दशवैकालिक सूत्र की रचना से पूर्व प्रचलित हो गया था। रहनेमि का वर्णन तथा **'न वा लभिज्जा निउणं सहायं'** वाली गाथा

उभयत्र समान है। वैसे 29वें अध्ययन के 73 बोल भगवती सूत्र में भी केवल नाम के रूप में है। आवश्यक सूत्र के विषय में काफी अस्पष्टता है; क्योंकि अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य के विभाजन में अंग बाह्य का जब भी उल्लेख हुआ, सबसे पहले आवश्यक सूत्र का नाम आया। इससे तो ये रचना पश्चाद्वर्ती प्रमाणित होती है। वैसे सर्वत्र मुनियों और साध्वियों के चित्रण में **'सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ'** का पाठ देकर सामायिक आदि की सार्वकालिकता सिद्ध होती है, सामायिक आदि ग्यारह अंग इस वाक्य के 2 अर्थ लिए जाते हैं - (1) सामायिक आदि छह आवश्यक तथा ग्यारह अंग (2) सामायिक शब्द का अर्थ है आचारांग और पूरा अर्थ हुआ- आचारांगादि ग्यारह अंग, वर्तमान में उपलब्ध आवश्यक सूत्र की भाषा ने इसकी मौलिकता ही छीन ली है। साधु का आवश्यक सूत्र तो फिर भी कुछ मूल आगम लगता है वरना श्रावक का आवश्यक देखकर तो लगता ही नहीं कि ये भगवान महावीर के समय की देन है। व्रत लिए है तो शुद्धि आवश्यक है ही अतः प्रतिक्रमण है।

प्रश्न 2: श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा में 45 आगम मान्य हैं, परन्तु स्थानकवासी परम्परा में 32 आगम ही स्वीकार किये गए, शेष 13 क्यों नहीं?

उत्तर- भगवान महावीर की मूलवाणी द्वादशांग गणिपिटक कहलाई। उसकी प्रामाणिकता तो केवल ज्ञान के कारण है ही। परंतु उनके पश्चात् 14 पूर्वी से उतरते-उतरते साढ़े नौ पूर्वी या 10 पूर्वी आचार्य भी अपनी सम्यक् दृष्टि और गहन ज्ञानशक्ति के बल पर श्रुत केवली कहलाए; अतः उनकी रचनाएं भी आगम की कोटि में रखी गईं तथा प्रामाणिक बनीं। उनके बाद के आचार्यों ने चाहे पूर्वों के आधार पर कुछ नई रचनाएँ कीं या स्वतंत्र चिंतन से लिखा, उसे जैन शासन ने आगम की श्रेणी में न रखकर सामान्य ग्रन्थ माना, उनकी आत्यन्तिक प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की। हालाँकि उनका सम्मान किया, अध्ययन योग्य माना, पर उसे आगम नहीं कहा। परंतु

देवर्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा वीरसंवत् 980 में आगमों को लिपिबद्ध किए जाने के बाद जैन संघ में किसी प्रसिद्ध आचार्य की रचना को आगम कहने की गलत होड़-सी प्रारंभ हो गई। कुछ टीकाएं, निर्युक्तियां, संकलन (जिन्हें प्रकीर्णक कहते हैं) भी आगम के रूप में सिंहासनासीन कर दिए गए। मूल आगम की व्याख्याएँ आचार्यों ने अपनी बुद्धि से की, अपने युग और अपनी उपयोगिता की सुरक्षा के लिए की तथा अपनी विविध प्रवृत्तियों को निर्दोष सिद्ध करने के लिए प्रचारित प्रसारित की।

कहीं-कहीं ये भी प्रचारित किया जाता है कि ज्ञानजी यति से वीर लोकाशाह को 32 ही आगम प्रतिलिपि के लिए प्राप्त हुए शेष-13 नहीं; अतः उन्होंने 32 को ही प्रमाण कोटि में रख लिया, परन्तु यह बात पूर्णतः कल्पित व तथ्य से विपरीत सिद्ध होती है। वीर लोकाशाह ने आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन किया तथा देखा कि मूल आगम कौन-से हैं, टीका ग्रंथ कौन-से। उन्होंने पाया कि 45 में मूल केवल 32 हैं, शेष 13 नहीं; अतः उन्होंने 32 मान्य किए, शेष छोड़ दिये। जैसे–पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, गच्छाचारपइण्णा (प्रकीर्णक) आदि। षडावश्यक में छः अलग अलग नाम मानकर एक आवश्यक रख लिया।

महानिशीथ सूत्र नष्ट हो चुका था। उसे आचार्य हरिभद्र सूरि ने नए सिरे से बनाया था तथा उसमें संस्कृत भाषा में भी काफी विषय है। हरिभद्र की रचनाओं में 'षड्दर्शनसमुच्चय' आदि की उपयोगिता के बावजूद आगमरूपता नहीं है, ऐसे ही महानिशीथ सूत्र की भी नहीं है, कुल मिलाकर स्थानकवासी परम्परा ने उस एक भी आगम को अनागम नहीं कहा, जो 10 पूर्वी तथा उससे पूर्ववर्तियों ने बनाया था। पश्चाद्वर्तियों को मानने के लिए कोई तर्क नहीं था। मूर्ति के समर्थन के कारण 13 आगम छोड़े, यह आरोप असत्य है; क्योंकि मौजूदा 32 आगमों में भी मूर्तियों का उल्लेख है तथा अमान्य किए गए 13 ग्रन्थों में से भी कुछ में मूर्ति की चर्चा नहीं है। मूर्ति का उल्लेख या अनुल्लेख आगमता का आधार नहीं रहा। मात्र केवली, श्रुत-केवली की रचना होना, न होना, यही आधार रहा है।

प्रश्न 3 : नन्दी सूत्र एक पूर्वी की रचना है, फिर इसे आगम की कोटि में क्यों रखा गया है?

उत्तर- केवल नन्दी सूत्र को लेकर कुछ संशय उभरता है। साधारण मान्यता है कि नन्दी सूत्र श्री देवर्धिगणी श्रमाश्रमण जी की रचना है। वे एक पूर्व के धारक थे, उनकी रचना को मूल आगम शायद इसलिए स्वीकार कर लिया है; क्योंकि उन्होंने सारे आगम लिपिबद्ध करके सुरक्षित बचा लिए थे, अन्यथा कोई भी आगम बचना मुश्किल था। इस कृतज्ञता के भाव से एक पूर्वी की रचना भी आगम रूप में मान्यता प्राप्त हो गई, ये भी संभव है कि ये रचना 14-13-12-11-10 तथा 9½ पूर्वीयों द्वारा बनाई गई हों; क्योंकि भगवती सूत्र में 5 ज्ञान का वर्णन करते हुए Refer किया है **'जहा नंदीए'** जैसा कि नंदी सूत्र में है, इसी तरह रायपसेणीयसूत्र में भी नंदीसूत्र का उल्लेख है, और तो और खुद नंदी सूत्र में वर्णित आगमों की सूचि में 'नंदी' का नाम वर्णित है। इन पाठों से किसी-किसी संघ ने ये निर्णय भी निकाल लिया कि वर्तमान में उपलब्ध 50 गाथाएं तो श्री देवर्धिगणी जी की हैं तथा 5 ज्ञान का विषय पूर्ववर्ती है और इस मान्यता के तहत वे पहली 50 गाथाओं को आगम नहीं मानते तथा असज्झाय नहीं टालते, बाकी को आगम मानते हैं, परन्तु इस मान्यता का खंडन इन्हीं गाथाओं की अंतिम पंक्तियों से होता है।

'नाणस्स परूवणं वोच्छं' अर्थात मैं ज्ञान की प्ररूपणा करूंगा, इस पंक्ति से लेखक ने सिद्ध किया है कि पिछली गाथाओं का लेखक ही पांच ज्ञानों का लेखक है।

'नंदी' शब्द आनन्दमंगलदायक है, हर साधु-साध्वी अपनी मानसिक शांति, सुखसाता, संघ वृद्धि के लिए इसका पाठ करता रहा है, इतने प्रचलित पाठ को आगम के रूप में मान्यता मिल ही जाती है। शायद ये तथ्य भी इसकी आगम मान्यता के पीछे रहा हो।

प्रश्न 4 : कालिक और उत्कालिक सूत्रों का विभाजन किस आधार पर हुआ और उनके साथ समय की क्या प्रतिबद्धता है?

उत्तर- कालिक और उत्कालिक सूत्रों का विभाजन नंदी सूत्र में दिया है। जो दिन व रात के प्रथम व अंतिम प्रहर में ही पढ़े जाएँ वे कालिक, जो अस्वाध्याय टालकर किसी भी प्रहर में पढ़े जाएं वे उत्कालिक हैं, ऐसा अर्थ टीकाओं में किया है किंतु कारण नहीं बताया कि वे आगम कालिक या उत्कालिक क्यों हैं? तो भी एक विचार जंचता है, इस पर अभी किसी की प्रामाणिकता की मोहर तो नहीं लगी है, फिर भी विचारार्थ प्रस्तुत है। तीर्थंकर काल में दिन और रात के प्रथम-अंतिम पहर में ही स्वाध्याय करने का प्रावधान था- **'पढमं पोरिसी सज्झायं, बियं झाणं झियायइ, तइयाए भिक्खायरियं निद्दमोक्खं च, चउत्थीए पुणसज्झाए'** यह व्यवस्था काफी सालों तक चलती रही। पर बाद में यह समाचारी बदली जानी पड़ी और आगम-वाचना का समय भी परिवर्तित करना पड़ा। उस समय संघ ने ये निर्णय किया होगा कि उस प्राचीन काल तक जो आगम लिखे जा चुके हैं, उनको तो पहले-अंतिम प्रहर में पढ़ो, उस व्यवस्था को बदले जाने के बाद जो आगम रचे गए, उन्हें कभी भी पढ़ लिया जाए।

दशवैकालिक यद्यपि प्राचीन काल में ही लिख दिया गया था, पर उसे तो शुरू से ही विकाल में पढ़ने वाला घोषित कर दिया था। अतः दशवैकालिक आदि कुछ आगम अपवाद में भी आ सकते हैं पर ज्यादातर पर यह चिंतन Fit बैठ सकता है।

प्रश्न 5 : श्रावकों द्वारा आगम पढ़ने चाहिए या नहीं, यदि हाँ तो कौन-कौन से?

उत्तर- आगमों के पाठों से प्रतीत होता है कि भगवान के युग में श्रावक वर्ग अपने धर्म के मूलभूत तत्वों का ज्ञाता होता था। **'अभिगयजीवाजीवे, उवलद्ध पुण्णपावे, बंधमोक्ख कुसले'** आदि विशेषण उसके ज्ञान की सीमा के द्योतक हैं।

भगवती सूत्र में मद्रुक आदि श्रावक धर्मास्तिकाय आदि के स्वरूप ज्ञाता तथा जयन्ती श्राविका एक ज्ञानवान 'जिज्ञासु' सेवाभाविनी श्राविका के रूप में वर्णित है। उपासकदशांग सूत्र में सद्दालपुत्र आदि श्रावक नियतिवाद पुरुषार्थवाद के अन्तर के जानकार दिखाए हैं। कुछ अन्य प्रसंग भी हैं जहां श्रावकों को ज्ञानी के रूप में प्रस्तुत किया है, परन्तु वे आगमों के पाठक के रूप में पेश नहीं किए। वे किसी गुरु के चरण में जंबू स्वामी की तरह उपस्थित होकर निवेदन नहीं करते कि हे भगवन् आपने षष्ठ अंग पढ़ाया है, अब सातवें का क्या अर्थ है? कृपा करें, न ही उन्हें एक अंग का, ग्यारह अंग का, द्वादशांग का धारक बताया। उस युग मे विधिवत् आगमों के अध्ययन की संभावना गृहस्थों के लिए संभव भी नहीं थी। दूसरा कारण ये भी था कि आगमों के स्वाध्याय के लिए दीक्षा पर्याय की अवधि भी निर्धारित थी।

लेकिन आगम जब लिपिबद्ध हो गए, तब गृहस्थ के लिये भी पढ़ने योग्य हो गए। आगमों की प्रतिलिपियां लेखकों से करवाई जाती थी, उस प्रक्रिया में जब जैनेतर विद्वान उन्हें पढ़ने के लिए अधिकृत हो गए, फिर जैन श्रावकों के लिए प्रतिबंध कैसे लगता। लोकाशाह की क्रांति के पीछे भी उनका शास्त्रज्ञान ही प्रमुख कारण बना। दिगम्बर समाज में पं० बनारसी दास, पं० टोडरमल आदि विद्वानों ने ये कमान संभाली। श्रावकों के द्वारा की गई क्रान्ति से घबराकर पूर्व-स्थापित परम्पराओं ने गृहस्थों के लिए शास्त्राध्ययन पर प्रतिबंध लगाने का प्रयास किया, लेकिन इस बीच तो मुद्रण, प्रकाशन का युग प्रारम्भ हो गया, हर व्यक्ति के लिए आगम सुलभ हो गए। अनुवाद आने के बाद सामान्य श्रावक को आनन्द भी आने लगा। अब तो स्थान-स्थान पर आगम स्वाध्याय की प्रेरणा भी है। आगमों के प्रकाशन को यदि साधुओं के उद्देश्य से जोड़ा जाएगा तो वे उन पुस्तकों को पढ़ नहीं सकेंगे; अतः श्रावकों के लिए पढ़ना, पढ़वाना और आवश्यक हो गया। हां, कुछ श्रावक आगमाध्ययन के जरिए आत्मकल्याण करने की बजाय साधु सुधार पर ज्यादा जोर देने लगे हैं, इससे उनका निजी विकास अवरुद्ध हो गया है। अयोग्य हाथों में पड़कर शास्त्र शस्त्र बन जाता है, ऐसा भी प्रतीत होता है पर इस प्रतिक्रिया को रोक पाना सहज नहीं होगा। फिर भी यदि

श्रावक आत्मार्थी है तो उपासकदशांग, उत्तराध्ययन, नंदी, प्रज्ञापना आदि के साथ-साथ कथानुयोग वाले आगम पढ़े तो लाभ में रहेगा, अन्य आगमों का अध्ययन निषिद्ध नहीं है, पर स्वयं की दृष्टि निर्मल रखनी जरूरी है, दूसरी सावधानी ये कि अनुवादक ने जो अर्थ दिया, उसे अंतिम न माने। अर्थान्तर को भी ध्यान में रखा जाए। जघन्य ज्ञान, उत्कृष्ट दर्शन-चारित्र से कल्याण संभव है, ये तथ्य ओझल न होने पाए।

प्रश्न 6 : क्या आगमिक गाथाओं को गाकर ही बोलना चाहिए? क्या गद्यात्मक शैली में पढ़ने से 'घोसहीनं' अतिचार लगता है?

उत्तर- वैसे गाथा का अर्थ ही यह है कि जो गाई जाए (वह गाथा है) पर गाना ही है, ऐसा आग्रह हमारे यहाँ नहीं है और उचित भी नहीं है। यदि Hard and Fast rule बनाना हो तो प्राचीन काल में तो प्रत्येक गाथा के प्रत्येक स्वर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित कैसा उच्चारण देना है ऐसा भी निश्चित था। नौ तरह के उच्चारण होते थे, वह शैली तथा विज्ञान अब लुप्त है, उस हिसाब से तो जो गाथाओं को गाकर बोलते हैं, वे भी 'घोसहीणं' अतिचार से बच नहीं पाएँगे तथा गायन की तर्ज भी एक नहीं विविध हो सकती हैं, कौन-सी प्रमाणिक, कौन-सी अप्रमाणिक, ये भी विवादस्पद रहेगा, पर अनेक छेड़खानियां कर्ण गोचर होने लगी हैं। नवकार मंत्र कोई सीधा-साधा बोल दे तो उसे गाकर बोलने के लिए बाध्य किया जाता है और तिक्खुत्तो का पाठ कोई लयबद्ध गा दे तो उसे अनुचित ठहराया जाता है कि यह तो सूत्र है गाथा नहीं; अतः बिना गाए बोलो, अपनी परम्परा तथा धारणा को दूसरों पर थोपना नहीं चाहिए। हमारी तो यही धारणा है कि सहूलियत व अवसर के अनुसार सूत्र हो या गाथा, दोनों को गद्यात्मक-पद्यात्मक किसी भी प्रकार से बोल सकते हैं।

प्रश्न 7 : अर्थ के बिना मात्र मूल आगम का पारायण कितना लाभकारी है?

उत्तर—आगम के तीन रूप हैं—सूत्रागम, अर्थागम, तदुभयागम; तीनों का महत्त्व है, तीनों का लाभ है। आचार्यों ने लिखा है "**अत्थं भासह अरिहा,**

सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं'' अरिहन्त तीर्थंकर अर्थ की प्रतिपादना करते हैं, गणधर सूत्रों की रचना करते हैं। जिन्हें ज्ञान को चरित्र में ढालने की रुचि होती है, वे अर्थ पर अधिक भार देते हैं। जिन्हें ज्ञान को भक्ति में ढालने की भावना है, वे सूत्रों को अधिमान देते हैं, उन्हें केवल उन शब्दों को पढ़ने-सुनने-गुनगुनाने में ही मजा आता है। उसी लय में डूब जाते हैं, अर्थ के झमेले में वे पड़ते ही नहीं। कई बार ऐसा होता है कि संगीत-रसिक भजनों की पंक्तियों और उसके भावों की बजाय उनके Music में ही खो जाते हैं। विशेषत: उन गीतों के जो भिन्न भाषा में लिखे गये हों। लेकिन शब्द मात्र में लीन होने वाले व्यक्ति कम होते हैं। अर्थ को समझकर चित्त को एकाग्र करने वाले व्यक्तियों की संख्या ज्यादा होती है। उन्हें केवल शब्द पाठ करना पड़े तो बोरियत हो जाती है; अत: उन्हें अर्थ पर अधिक ध्यान देना चाहिए चाहे मूल सूत्र पढ़ें, ना पढ़ें। तथा जो भाषा व्याकरण के अभ्यासी हों, उनके लिए तदुभय (दोनों) उपयोगी रहता है। सूत्र की रक्षा से मौलिक संस्कृति बचती है। अर्थ की रक्षा से आत्मगुणों का विकास होता है। तदुभय रक्षा से इतिहास और धर्म का संरक्षण होता है।

प्रश्न 8 : अमुक तिथि व अमुक स्थिति में स्वाध्याय नहीं करना, इन स्वाध्याय-अस्वाध्याय के पीछे क्या आधार है? कारण दैवीय है या व्यावहारिक?

उत्तर—प्राचीन युग में स्वाध्याय की परम्परा केवल साधु-साध्वी वर्ग में ही प्रचलित थी। श्रावक वर्ग इससे पृथक् रहता था, वह अधिकतर तीर्थंकरों के समवशरण में, गुरुओं के सत्संग में जाकर धर्म श्रवण करता था; अत: स्वाध्याय के काल-अकाल का निर्धारण मुनियों की जीवनचर्या के अनुरूप किया गया। प्रारम्भिक युग में मुनिवर्ग स्वाध्याय प्रथम तथा अंतिम पहर में करता था। उन दो पहरों में भी जिस समय में मुनिचर्या की अन्य गतिविधियाँ अनिवार्य होतीं, वह समय भी निषिद्ध था। यथा उदय-अस्त की दो-दो घड़ियाँ। तब प्रतिलेखना-प्रतिक्रमण की अनिवार्यता होती थी, अत: स्वाध्याय नहीं होता था तथा कुछ तिथियों एवं स्थानों, स्थितियों में उसे धर्मकथा व सामूहिक वाचनारूप स्वाध्याय करने की मनाही थी। क्योंकि

उन तिथियों में महोत्सवों का आयोजन होता था। कोलाहल तथा अतिव्यस्तता के माहौल में धर्मकथा एवं समूहवाचना संभव नहीं होती थी। प्रयास करने तथा प्रयास में विघ्न आने से चिड़चिड़ापन और असमाधि की सम्भावना बनती थी; अत: उन दिनों समूह वाचना, धर्मकथा नहीं करने का निर्देश मिला था, ऐसे ही अशुचिता बहुल स्थानों पर धर्मकथा-सामूहिक वाचना करने से अशोभा हो सकती है, इसलिए वैसे स्थान भी वर्जित कर दिये। किसी दैवी प्रकोप के होने की सम्भावना से अस्वाध्याय कालों का सम्बन्ध हो, ऐसा किसी आगम में देखने में नहीं आया।[1]

प्रश्न 9 : वैराग्यवर्धक, अध्यात्मरूप जैन आगमों में नारी देह का शृंगारिक (कामवर्धक) वर्णन क्या आगमों के शेष संदेशों से विपरीत नहीं है?

उत्तर- धर्मकथानुयोग में चित्रण बहुलता है। नगरी, द्वार, उद्यान, महल, संगीतोपकरण, नाट्यविधियां आदि का विस्तृत वर्णन कभी-कभी थकाने वाला लगता है। जीवाभिगम सूत्र में चारद्वारों का, राजप्रश्नीय सूत्र में देवों की सुधर्मासभा का इतना व्यापक वर्णन है कि पाठक को लगता है कि धार्मिकता का कोई स्थान ही नहीं है। चार अनुयोगों का पठन-पाठन भिन्न भिन्न रुचि के व्यक्तियों के लिए रहा है, जो मानव काव्यालंकारप्रिय हैं वे इस प्रकार के वर्णनों में रस लेते हुए अन्त में कुछ Moral सीख लेते थे। जो संयम, तप, क्रिया, आचरण को अधिमान देते थे, उन्हें चरणानुयोग पढ़ाया जाता था। जो वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न थे, उन्हें गणितानुयोग में ढाला जाता था तथा जो दार्शनिकता को अधिमान देते थे, उन्हें द्रव्यानुयोग सिखलाया जाता था। हाँ, जिन्हें वर्णनात्मकता पसन्द है, वे पुरुष-नारी आदि में भेद रेखा न खींचकर यथार्थचित्रण के पक्षधर होते हैं तथा एक समय आता है जब साधक के लिए स्त्री-पुरुष की भिन्नता समाप्त हो जाती है। यदि समता दृष्टि न हो तो पुरुषों के चित्रण पर महिलाओं को आपत्ति हो सकती है। या तो किसी का वर्णन न हो और हो तो किसी की उपेक्षा न हो। यदि पाठक का मानसिक स्तर विकृत होने की संभावना हो तो उस पाठ को छोड़ा जा सकता है। यदि पाठक प्रबुद्ध है तो वह स्त्रीकथा का दोषी नहीं है।

प्रश्न 10 : नंदी आदि आगमों में रामायण को मिथ्याश्रुत कहा है, जैन परंपरानुसार राम मोक्ष में गए है फिर मिथ्या क्यों?

उत्तर- नंदी में जितने भी ग्रंथ 'मिथ्याश्रुत' की कोटि में डाले हैं वे उसमें वर्णित पात्रों के कारण नहीं, अपितु लेखकों की दृष्टि के कारण। जिन्हें आत्म तत्व का स्पष्ट बोध नहीं, देवगुरु धर्म की विशुद्ध श्रद्धा नहीं, ऐसे लेखक जो कुछ लिखेंगे उनसे सही प्रतिपादन की कल्पना अशक्य समझी गई है। ऐसे लेखक राम को 'अवतार' के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जैन चिंतक ऐसे लेखक को और उसकी रचना को कैसे सम्यक् मान सकते है? यदि राम को एक साधारण मानव के रूप में उत्पन्न बताकर फिर उनका क्रमिक विकास दिखाते हुए मुक्ति दिलवाते तो जैन चिन्तक इस ग्रंथ को 'सम्यक्' का दर्जा दे सकता था। इस ग्रंथ में और भी असंगतियां है जो न केवल जैनों को खटकती हैं, स्वयं सनातन पंथियों के गले भी नहीं उतरती हैं और इसीलिए पश्चात्वर्ती लेखकों ने उनका परित्याग भी किया है।

प्रश्न 11 : अंतकृतदशांग सूत्र में भगवान पार्श्वनाथ के शासनवर्ती अंतकृत साधकों का वर्णन क्यों नहीं है?

उत्तर- वर्तमानकाल में आगमों का जितना पाठ हमें उपलब्ध है, उससे कई गुना अधिक रचनाकाल में रहा था। ऐसा निर्णय इस तथ्य से निकाला जाता है कि नंदी सूत्र में उल्लेख है कि आचारांग सूत्र में 18000 पद थे, सूत्रकृतांग सूत्र में उससे दुगुने 36000, स्थानांग सूत्र में 72000, समवायांग सूत्र में 144000, भगवती सूत्र में 288000, ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, उपासकदशांग सूत्र, अंतगडदशांग सूत्र में क्रमशः दुगुने-दुगुने थे। पदों की इतनी बहुलता से प्रतीत होता है कि संभवतः 24 तीर्थंकर भगवंतों के अंतकृत् केवलियों का वर्णन इस आगम में रहा होगा। कुछ विद्वानों का कहना है कि 11 गणधरों के 9 गण के हिसाब से 9 अंतगड की वाचना हुई। इन 9 अंतगडों में अलग-अलग तीर्थंकरों की शासनवर्ती अंतकृत्-आत्माओं का वर्णन विभाजित रहा होगा, सुधर्मा जी के अंतगड में 22वें, 24वें भगवान के शासनवर्तियों का वर्णन रहा, किंतु यह चिंतन सही नहीं

लगता। वाचनाओं में अंतर विषय का नहीं, शैली का रहा था। किसी को काव्य शैली अच्छी लगती थी, किसी को गद्य शैली, किसी को कथानकों के माध्यम से विषय प्रतिपादन अच्छा लगता था, किसी को सीधे सपाट विवेचन का अभ्यास था। हर शिक्षक की शैली अपनी निजी होती है और उसके अनुसार ही वह छात्रों को अध्ययन कराता है। इसी तरह वाचनाओं की भिन्नता समझी जानी चाहिए तथा अंतगडों में 24 तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों का वर्गीकरण नहीं जंचता; क्योंकि यदि वर्गीकरण होता तो पांचवें क्रम पर श्री सुधर्मा जी को शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ आदि के अंतकृत केवलियों की वाचना हिस्से में आनी तर्कसंगत लगती है, न कि 22वें-24वें की।

इंद्रभूति जी को पहले-दूसरे तीर्थंकरों के अंतकृत केवलियों के प्रसंग विभाजित हुए होंगे, अग्निभूति जी को अगले 2 या 3 तीर्थंकरों के। यह क्रम 5वें गणधर तक आते-आते 10-11-12 वें तीर्थंकर तक ही पहुँचता, न कि 22वें-24वें तक; अत: यही जंचता है कि सभी वाचनाओं में सभी तीर्थंकरों के शासन का वर्णन रहा होगा किंतु बुद्धि की अल्पता के कारण प्रागैतिहासिक तीर्थंकरों के साधकों का ब्यौरा लुप्त हो गया तथा इतिहास मान्य 3 तीर्थंकरों का शेष रह भी गया होगा। परन्तु भगवान पार्श्वनाथ के साधकों का पाठाभाव क्यों है, इसका सही उत्तर तो केवलीगम्य ही है पर चिंतन ये कहता है कि भगवान महावीर के समय और उनके बाद भी काफी समय तक भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा के संत-सतियां पृथक् रूप से अपनी पहचान बनाए हुए थे, उनका स्वतंत्र संघ भी दीर्घकाल तक समानान्तर रूप से चालू रहा। यद्यपि कुछ साधु-साध्वी भगवान महावीर के शासन में भी सम्मिलित हो चुके थे पर एक बड़ा वर्ग अपना अलग वजूद कायम किए हुए था। वे साधु-साध्वियां भगवान पार्श्वनाथ भगवान के अंतकृत केवलियों का चरित्र सुनाते होंगे, ऐसे में भगवान महावीर के मुनियों ने वह अंश उनके ऊपर छोड़ शेष दो तीर्थंकरों के साधकों का वर्णन संभाले रखा हो-कुछ हम संभाल लें कुछ वो, तथा उस संघ के विलुप्त होते ही वो ज्ञानांश भी विलुप्त हो गया हो। इसी से संबद्ध दूसरी कल्पना जो अच्छी तो

नहीं लगती, पर असंभव नहीं है। भगवान महावीर के मुनियों का भगवान पार्श्वनाथ के संघस्थ मुनियों से कुछ विरोध चलने लगा हो और फलस्वरूप उनके संघ में मान्य चरित्रों का गुणानुवाद प्रतिस्पर्धास्वरूप छूट गया हो, इस कल्पना को बल देने वाला 'पार्श्वस्थ' शब्द है। संयम में शिथिल को ढीलापासत्था कहा जाता है। पार्श्व संघ में स्थित प्रत्येक मुनि भगवान महावीर परंपरा में हीन दृष्टि से देखा जाता होगा। संभवत: पार्श्व परंपरा का बहुत भाग शिथिलता की राह पर चल पड़ा होगा। ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र-द्वितीय श्रुतस्कंध में अधिकांश विराधक साध्वियां प्रभु पार्श्व के शासन से संबद्ध हैं। जनसामान्य भी पार्श्वशासनवर्ती साधुओं को शिथिल मानने लग गया होगा। 'पार्श्वस्थ' शब्द हमारे यहां कभी श्रद्धास्पद नहीं रहा। अत: पार्श्व प्रभु से जुड़े वृतांत छोड़ दिए हो। ये केवल कल्पना समझे, यथार्थ तो केवलीगम्य है।

प्रश्न 12 : आगमों में वर्णित आयु अवगाहनाओं की दीर्घताएं, पल्योपम-सागरोपमों की व्याख्या, देव-देवियों का वर्णन, वर्तमान काल में उपलब्ध न होने से बुद्धिगम्य नहीं होते? उनके विषय में प्रश्न करना अनुमत है या केवल श्रद्धा का विषय ही बनाया जाए?

उत्तर- जैन धर्म प्रारंभ से ही जिज्ञासा को बढ़ावा देता रहा है। आगमों में विशेषत: भगवती सूत्र में गौतमादि को **'जाए सड्ढे, जाए संसए, जाए कोउहल्ले'** कहा है। श्रद्धा, संशय, कुतूहल ये तीनों शब्द जिज्ञासा के वाचक हैं; अत: जिज्ञासा के लिए पूरा scope है। प्रश्न पूछेंगे, व्याकरण पूछेंगे ऐसा अनेक श्रावकों के चित्रण में वर्णित है। जाय सड्ढे आदि शब्द भी 'पूछने' को ज्ञान की वृद्धि का कारण बता रहे हैं। स्वाध्याय के पांच भेद हैं–वाचना, पृच्छना, परियट्टना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा। यहाँ भी पूछना स्वाध्याय तप के अंतर्गत रखकर अनुमत हुआ है। भगवती सूत्र में वर्णन है कि दूसरे गणधर अग्निभूति ने कुछ पृच्छा की, समाधान पाया, उन्होंने वायुभूति को वही बात बताई तो उन्हें सही नहीं जँची। दोनों भगवान के सान्निध्य में गए, भगवान ने कहा अग्निभूति सही कह रहे हैं तो वायुभूति

को संतुष्टि हुई। पर ये नहीं कहा कि न मानने से वायुभूति की श्रद्धा खंडित या मलिन हो गई। पूछने की पूरी छूट है, पर जिस विषय में बुद्धि और इंद्रियों का प्रवेश न हो वहाँ तो श्रद्धा का ही आश्रय लेना चाहिए।

प्रश्न 13 : ग्रहण आदि के विषय में वैज्ञानिकों की तरह पोथी विशेषज्ञ भी आगे तक का खाका खींच देते हैं। दोनों का Method अलग परन्तु परिणाम एक है। जबकि हमारे और उनके भूगोल में मूलभूत अंतर है यथा धरती का घूमना, सूर्य स्थिरता आदि।

उत्तर- भारत-यूनान आदि देशों में खगोल विज्ञान अत्यंत विकसित हो चुका था। सूर्य-चंद्रमा-ग्रह-नक्षत्रों की गति कालमान आदि का अत्यंत सूक्ष्म गणित हमारे पूर्वजों के पास था। प्रारंभिक विज्ञान ने उनके तथ्यों को सही ही माना था। लेकिन कुछ और समस्याएँ वैज्ञानिकों के सामने आईं जिनका समाधान पुराने खगोलज्ञों के पास नहीं था। जैसे कि ध्रुवीय क्षेत्रों में 6 महीने दिन, 6 महीने रात, स्केंडीनैवियाई देशों में अर्धरात्रि को सूर्योदय आदि कई समस्याएँ थीं जिनके समाधान के लिए वैज्ञानिकों को सूर्यभ्रमण की जगह शायद पृथ्वीभ्रमण के सिद्धांत को स्वीकार करना पड़ा। यद्यपि यह सिद्धांत भी एकदम नया नहीं था। आर्यभट्ट इसे मान्यता दे चुके थे। जैनागमों में भी पृथ्वीभ्रमण की एक मान्यता का जिक्र है। पृथ्वी या सूर्य किसी का भी भ्रमण मानें, यदि इनकी speed आदि को सही ढंग से calculate कर लिया जाए तो सूर्यग्रहण-चंद्रग्रहण आदि की घटनाओं को हजारों लाखों साल पहले बताना संभव है। प्राचीन विज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान, दोनों को ये विधि प्राप्त हैं। प्राचीन और आधुनिक विज्ञान कुछ विशिष्ट सिद्धांतों पर ही मतभेद रखते हैं, छोटी-छोटी बातों पर नहीं।

प्रश्न 14 : आगम वर्णित भूगोल-खगोल से वर्तमान वैज्ञानिक मान्यताएँ मेल नहीं खातीं, इन विषयों पर क्या दृष्टिकोण रखा जाए?

उत्तर- किसी पक्ष का खंडन-मंडन किए बिना भी गुजारा हो सकता है; क्योंकि प्रथमतः तो यह विषय साधना रुचि संपन्न व्यक्तियों के लिए विशेष

उपयोगी ही नहीं है। यदि पृथ्वी ठहरी हुई है तो क्या, घूमती है तो क्या? आत्मा के लिए कषाय शांति के उपाय ही लाभदायक हैं, इन विषयों की प्रामाणिकता नहीं। द्वितीय, हम विज्ञान के विद्यार्थी नहीं, विशेषज्ञ नहीं, अतः उनकी मान्यताओं की समुचित जानकारी नहीं होने से विरोध या समर्थन करना शक्य नहीं, उचित नहीं। आगम के प्रति श्रद्धा के बावजूद उनमें प्रतिपादित तथ्यों को सिद्ध करने के साधन और यंत्र उपलब्ध नहीं है; अतः आग्रहपूर्वक नहीं कहेंगे कि ये आंकड़े विश्वसनीय और प्रमाणिक हैं। संभव है कि जो विषय हमें समझाया है, जिस तरह हमने समझा है, वह आगमकारों की दृष्टि से भिन्न हो, हमारी समझ से भिन्न हो। छद्मस्थ व्यक्ति ये दावा नहीं कर सकता कि मेरे द्वारा जाना गया अर्थ शत-प्रतिशत सही है। अपने अज्ञान की स्वीकृति रूप-विनय से आगम की गरिमा सुरक्षित रह सकती है।

तृतीय आगमोक्त भूगोल मानसिक एकाग्रता रूपी ध्यान के लिए परमोपयोगी है, उसका उस रूप में लाभ उठायें। विश्व मान्यताओं में केवल जैन मान्यता ही लोक और पुरुष की आकृति को समान मानती है। अपने शरीर के समस्त अंगों पर ध्यान करना भी लोकसंस्थान ध्यान बन जाता है और ध्यान से कर्मनिर्जरा अतिशीघ्र होती है। इस तरह जैनागम वर्णित भूगोल-खगोल का उपयोग इस विधि से भी किया जा सकता है। ध्यान रहे कि आधुनिक शिक्षा से परिचित मस्तिष्कों में हम अपनी मान्यताओं का प्रवेश नहीं करवा सकते बल्कि आग्रहपूर्वक सिद्ध करने का प्रयास करेंगे तो अधिक हास्यास्पद बनेंगे।

❀ ❀ ❀

1. प्रस्तुत विषय में बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित सुविस्तृत लेख "स्वाध्याय बनाम अस्वाध्याय" विशेष पठनीय है।

जैन पर्व

8. जैन पर्व

प्रश्न 1 : अक्षयतृतीया पर भगवान ऋषभदेव के पारणोत्सव को निमित्त बनाकर किया जाने वाला तप एवं तप अभिनन्दन कितना उचित है और ये परम्परा कितनी प्राचीन है?

उत्तर—जैन इतिहास में ज्ञान दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिए तप का विधान किया गया है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर स्वामी पर्यन्त उत्कृष्ट तप के उदाहरणों को विशेष रूप से चित्रित मंडित किया गया है। वैदिक परम्परा में भी तप और तपस्वियों का विशेष दर्जा रहा है। ''**ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा परः सहस्राणि शरदः तपांसि**'' आत्महित के लिए बड़े-बड़े तपस्वियों ने हजारों-लाखों सालों तक तपस्याएँ कीं। बौद्ध परम्परा ने मध्यममार्गानुगमन के कारण अधिक तप का मण्डन नहीं किया। भक्तिमार्ग में तप गौण हो गया। सिक्ख धर्म ने तप का निषेध ही कर दिया पर जैनों ने तप को प्रारम्भ से ही ऊँचा स्थान दिया। इतिहास के आदिकाल में मुनियों ने अधिक तप किया, परन्तु बाद में श्रावकों में भी तप का प्रचलन हो गया। तप की विविध विधाओं में वर्षीतप का नम्बर भी आया था, भगवान ऋषभदेव ने वर्ष भर से ज्यादा निराहार रहकर साधना की और वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन उसका पारणा किया। पारणे की तिथि की मान्यता हजारों वर्ष पुरानी है। इसी तिथि को निमित्त बनाकर गृहस्थ वर्ग ने भी वर्षीतप का ग्रहण तथा पारणा अक्षय तृतीया के दिन प्रारम्भ कर दिया। तपस्या तथा तपस्वी की अनुमोदना करने के लिए अभिनन्दन की प्रथा प्रारम्भ हो गयी।

शादियों के Function होते हैं। खिलाड़ियों को Medal दिये जाते हैं, कलाकारों का सम्मान होता है। राजनेताओं, धनिकों के स्वागत समारोह होते हैं तो मोक्षमार्ग के पथिकों का अभिनन्दन तो पुण्यवर्धक तथा निर्जरा

कारक होता ही है। श्री कृष्ण महाराज ने कहा था कि जो दीक्षा लेगा, उसका शाही ढंग से निष्क्रमण कराऊँगा। ये चारित्रात्मा का, उसके चारित्र का अभिनन्दन है। ऐसे ही अक्षय तृतीया पर तप और तपस्वी के अभिनन्दन को समझना चाहिए।[1]

प्रश्न 2 : आज जैन साधु-साध्वी अपने पर्वों आदि की आराधना लौकिक पंचांग की तिथियों के अनुसार करते हैं। क्या इसमें निशीथ सूत्र से कोई विरोध नहीं आता?

उत्तर- पंजाब परम्परा के महान आचार्य श्री सोहनलाल जी म० ने 21 हजार वर्ष का जैन पंचांग तैयार किया था। यदि वह समग्र जैन समाज में मान्य हो जाता तो कई समस्याओं का समाधान हो जाता—(1) कोई भी त्यौहार दो दिनों में नहीं मनाया जाता। (2) चतुर्थ या पंचमी का चक्कर खत्म हो जाता। (3) उदय-अस्त का भेद मिट जाता। (4) सबसे बड़ी उलझन पाँच महीनों का चौमासा नहीं होता। जैन पंचांग के अनुसार आषाढ़ और पौष महीने ही Double हो सकते हैं, शेष दस नहीं। चौमास के चारों माह बढ़ ही नहीं सकते। हर ढाई साल के बाद एक माह की वृद्धि होती। एक बार आषाढ़ की, अगली बार पौष की, ये Rotation चलता है तथा कोई तिथि बढ़ती नहीं, हाँ हर दो महीने के बाद एक तिथि क्षीण होती है। साल में 6 तिथियाँ घटने से ढाई साल में 15 तिथियाँ घटती हैं तथा उन्हें पूरा करने के लिए ढाई साल में एक माह बढ़ाया जाता है। साथ ही किसी भी भारतीय पंचांग में 365-366 दिन का साल नहीं होता, जबकि ऐसा होना जरूरी है। उस क्षतिपूर्ति के लिए भी एक महीना बढ़ाना जरूरी होता है। वैसे तो लौकिक पंचांग हमारी अनेक व्यवस्थाओं में रुकावट डालता है परन्तु जैन पंचांग चालू न होने से लौकिक पर ही भरोसा करना पड़ता है; इसलिए आगम विरोध तो आएगा ही।

प्रश्न 3 : पाँच माह के चातुर्मास होने की स्थिति में संवत्सरी कब की जानी चाहिए?

उत्तर- समवायांग सूत्र आदि अनेक आगमों में संवत्सरी 50वें दिन करने का आदेश है। कल्प सूत्र में भगवान महावीर ने 50वें दिन पर्यूषणा की, ऐसा

उल्लेख है। साथ ही आगे लिखा है कि उनके शिष्यों, प्रशिष्यों ने तथा उत्तरवर्ती समय में इतिहास ने उसी परम्परा का निर्वाह किया; अतः 50वें दिन का उल्लंघन शास्त्र विरुद्ध है। यदि सावन दो हों तो दूसरे सावन की शुक्ल पंचमी को संवत्सरी करनी, भादवे दो हों तो प्रथम भादवे की शुक्ल पंचमी को। जो संप्रदाय 80वें दिन संवत्सरी करते हैं, उनका तर्क है कि समवायांग सूत्र में ही 70 दिन शेष रहने पर संवत्सरी मनाने का आदेश है, इसलिए वे अधिक महीने की अगणना कर देते हैं। वस्तुतः आगम युग में चातुर्मास में मास वृद्धि होती ही नहीं थी, या तो आषाढ़ बढ़ता था या पौष, मगर किसी कारण जैन पंचांग की कुछ सूक्ष्मताएं गुम हो गईं और हमें लौकिक पंचांग का आश्रय लेना पड़ा, उसी कारण से उलझन बन गई। फिर भी श्वेतांबर स्थानकवासी जैन समाज का 80% भाग 50वें दिन ही संवत्सरी करता है।

यह भी समझ लें कि आगमों में पंचमी के दिन ही संवत्सरी मनाने की भी कोई प्रतिबद्धता नहीं है। 50वें दिन का अतिक्रमण नहीं करना, ऐसा आगमकारों का आदेश है। 50वें दिन से पूर्व संवत्सरी भले हो जाए, पर बाद में नहीं; ऐसी आगम आज्ञा समझ में आई है। वैसे हमारे संघ का निर्णय बहुलतापरक रहा है। जब अधिकतर स्थानकवासी संघ संवत्सरी मनाते हैं, हम वही मान्य कर लेते हैं, ताकि सामूहिकता व पर्व की पवित्रता बनी रहे तथा क्षेत्रों में भी समन्वय व एकरूपता रहे। 2004 में श्रमण संघ ने 80वां दिन चुना तो हमने भी मान्य किया। वैसे शास्त्रीय आधार पर 50वां दिन ज्यादा ठीक है।

प्रश्न 4 : संवत्सरी की एकता सर्वसम्मत निर्णय तक कैसे पहुंचे?

उत्तर- सैंकड़ों वर्षों से उलझी इस गुत्थी का सर्वमान्य समाधान आसान नहीं लगता है, एक तो दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा के पर्यूषणों में 9 दिन का अन्तर है। दूसरे मन्दिरमार्गी और अमंदिरमार्गी श्वेताम्बरों में चौथ तथा पंचमी के कारण एक दिन का अन्तर है। तीसरे स्थानकवासियों में भी भिन्न-भिन्न संप्रदायों में सूर्योदय और सूर्यास्त के आधार पर तिथि मानने के कारण विवाद खड़ा हो जाता है।

इन समस्याओं का निराकरण आगम मान्य पंचांग को मानने से निकल सकता है। कभी पंजाब परम्परा के आचार्य श्री सोहन लाल जी म० ने उस पंचांग की रचना की थी, किन्तु उस युग में वह समग्र समाज में मान्य होना तो दूर, पंजाब के स्थानकवासी मुनियों में भी स्वीकरणीय नहीं हुआ। वस्तुतः ये समग्र जैन समाज का मसला है, इसे टुकड़ों में सुलझाया नहीं जा सकता। जैनों का श्वेताम्बर वर्ग एकमत से फैसला ले तो जैन पंचांग लागू हो सकता है। जैन पंचांग की विशिष्टता यह है कि सावन, भादों, आसोज और कार्तिक- ये चार महीने कभी भी नहीं बढ़ते हैं। जैन पंचांग के अनुसार आषाढ़ और पौष ये दो माह ही बढ़ते हैं, शेष दस माह कभी नहीं। जब तक लौकिक पंचांगों का आश्रय नहीं छूटेगा तब तक संवत्सरी का सर्वमान्य हल निकलना संभव नहीं लगता।

फिर भी यदि निर्णय करना हो तो चातुर्मास प्रारम्भ होने के 50वें दिन संवत्सरी कर लेना अधिक संगत लगता है; क्योंकि कल्पसूत्र मे भगवान महावीर के हवाले से ये कहा है कि पर्यूषण पर्व आराधना 50 दिन से पूर्व की जा सकती है, बाद में नहीं। इसी तर्क का सहारा लेकर कालकाचार्य ने छट्ठ की संवत्सरी करने की बजाय चौथ की संवत्सरी कर ली थी। उस आपवादिक स्वीकृति को छोड़कर वे मूल पंचमी पर आ जाएं तथा सावन, भादों के चक्कर को छोड़ 50वें दिन को संवत्सरी मान लें तो बात बन सकती है। पंचमी शब्द का आग्रह भी छोड़ दिया जाए। पंचमी सूर्योदय के समय से है या सूर्यास्त के समय से, ये झंझट दरकिनार कर 50वां दिन सांवत्सरिक एकरूपता का मानदण्ड बनाया जा सकता है तो एकरूपता संभव हो सकती है।

❀ ❀ ❀

1. प्रस्तुत विषय में बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित 'अश्रय तृतीया-शंका निवारण' सुविस्तृत लेख पठनीय है।

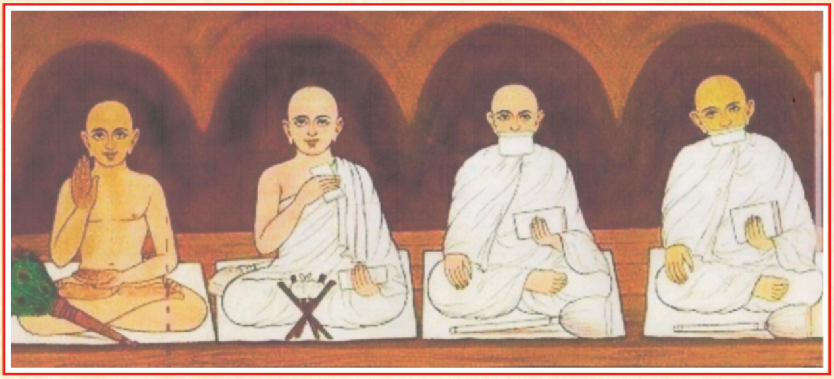

जैनधर्म के चार सम्प्रदाय

9. जैनधर्म के चार सम्प्रदाय

प्रश्न 1 : तीर्थंकर की वाणी समान होने पर भी दिगम्बर श्वेताम्बर रूप भिन्नता क्यों-कैसे और कब हुई?

उत्तर- भगवान के युग में जिनकल्प या स्थविरकल्प ये दो व्यवस्थाएँ थीं। ये परस्पर विरोधी नहीं थीं अपितु सहयोगी थीं। धीरे-धीरे एक व्यवस्था में जीने वाले साधकों को अपनी व्यवस्था के प्रति अधिक लगाव, राग हो गया और भिन्न व्यवस्था से दुराव, द्वेष बन गया। यों करते-करते 600 साल बीतते-बीतते दो शाखाएँ बन गईं और परस्पर विरोधी। मानव प्रकृति है कि एक रूपता में जीना उसके लिए दीर्घकाल तक संभव नहीं है उसे भिन्नता चाहिए। इस भिन्नता को जैनों ने 'अनेकान्तवाद' के माध्यम से औचित्य भी प्रदान किया है, एक शब्द के अनेक अर्थ होना भाषा का सिद्धांत है अतः महावीर वाणी के अनेक अर्थ निकालना विद्वता की पहचान भी है तो मानव मन की आवश्यकता भी। श्वेताम्बर दिगम्बर भेदों को विस्तार भी माना जा सकता है।

प्रश्न 2 : कुछ कहते हैं कि स्थानकवासी परम्परा आर्य स्थूलिभद्र जी से शुरू हुई और उदाहरण स्वरूप श्लोक का तृतीय चरण 'मंगलं स्थूलभद्राद्याः' दिया जाता है तथा 12 वर्ष के अकाल के समय वस्त्र-पात्र आए, ऐसा कहना कितना उचित है?

उत्तर- भ. महावीर के समय में जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों व्यवस्थाएं थीं, अन्तिम केवली जंबू जी के बाद जिन बनने की संभावना नहीं रही तो सोचा कि जिनकल्प भी बंद कर दिया जाए, मगर सर्व सम्मति बन नहीं

पाई, भद्रबाहु स्वामी तक ये कशमकश चलती रही, भद्रबाहु जी ने निर्णय कर दिया कि दोनों ही परम्पराएं चालू रहें, परस्पर विरोध न करें, सहयोग करें, फार्मूला मान्य रहा, सवस्त्र परंपरा के प्रमुख आचार्य स्थूलिभद्र रहे, अतः उनका नाम मंगलाचरण में डाल दिया। वैसे यह श्लोक बहुत प्राचीन नहीं है। दिगंबरों के कट्टरवादी वर्ग ने विविध कल्पनाएं-कथाएं बना दी और वस्त्र पात्र की परंपरा को उत्तरवर्ती घोषित कर दिया। श्वेताम्बरों के कट्टर वर्ग ने भी नग्नता की उत्पत्ति पश्चाद्वर्ती घोषित कर दी और कहानियां जोड़ दी।

यदि आद्य (मंगलं स्थूलभद्राद्याः) शब्द से श्वेताम्बरत्व की शुरुआत आर्य स्थूलिभद्र से मानने का तर्क मान्य करना पड़ेगा तो दिगम्बरत्व की आदि कुंदकुंद से माननी पड़ेगी, न कि भगवान महावीर से क्योंकि वहां भी प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में **'मंगलं कुन्दकुन्दाद्याः'** आता है। कथाओं में ऐसा भी वर्णन मिलता है कि आर्य स्थूलिभद्र जी को गहरा मलाल था कि भविष्य में मैं निंदापात्र बनूंगा कि मेरे कारण 4 पूर्वों का अर्थ ज्ञान विछिन्न हो गया। उस समय आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें निराशामुक्त करते हुए फरमाया कि प्रभु महावीर और गौतम स्वामी के पश्चात् तुम्हारा नाम मंगल रूप में गिना जाएगा, कहीं कहीं घोर ब्रह्मचर्य साधना भी मंगलाचरण में होने का कारण मानी जाती है। कई कथाकारों ने तो यहां तक भी कह दिया कि 84 लाख चौबीसी तक उनका नाम रहेगा, पर यह मात्र अतिशयोक्ति लगती है।

प्रश्न 3 : जैन धर्म मूलतः मूर्तिपूजक रहा या अमूर्तिपूजक? क्या आगमों में मूर्ति का वर्णन है?

उत्तर- जैन धर्म ही क्यो? विश्व का प्रत्येक धर्म मूलतः निराकार उपासना पर खड़ा हुआ है। वेद, उपनिषद् विश्व के प्राचीनतम धर्म ग्रंथ हैं। उनमें मूर्ति का उल्लेख नहीं है। ऋषभदेव से महावीर स्वामी तक जैन धर्म त्याग तपस्या पर टिका रहा। श्रावक भी 12 व्रत, प्रवचन श्रवण द्वारा धर्म भावना से जीवन को कृतार्थ करते थे। बौद्ध धर्म में निराकारता थी, पारसी,

ईसाइयत, इस्लाम, सिक्खी सर्वत्र कहीं भी मूर्ति नहीं है। पर भगवान महावीर स्वामी के 400 से 500 साल बाद जैन धर्म में मूर्ति का प्रवेश होना प्रारंभ हुआ। उसके कुछ संकेत आगमों में उपलब्ध होते हैं। पर वे संकेत भी आदेशात्मक नहीं हैं। केवल मूर्ति मंदिरों की उपस्थिति का अहसास अवश्य कराते हैं।[1]

प्रश्न 4 : क्या साधु के देहोत्सर्ग के पश्चात् स्मारक बनाना जड़पूजा का सूचक है?

उत्तर- जैन समाज में चैत्यों का प्रवेश इन्हीं स्मारकों के माध्यम से हुआ था। चिता के समीप बनाए स्तूप आदि को प्रारंभ में चैत्य कहा जाता था। गुरुओं की स्मृति में बनाए गए चैत्यों को वैधानिकता प्रदान करने हेतु प्राचीन आचार्यों ने स्तूप आदि का निर्माण तीर्थंकरों से जोड़ा। पूर्व पुरुषों के स्मारकों के रूप में खड़े हुए ये ही चैत्य कालान्तर में मंदिर बन गए और आडम्बर परिग्रह का केन्द्र भी, स्थानकवासी मुनियों ने यह प्रवृत्ति बदलने का उद्घोष किया। पर हमारी ही लोकैषणाओं ने फिर से मुनियों की स्मृति में चरण बनाने शुरू कर दिये। सामान्यजन को इन श्रद्धा प्रतीकों में विश्वास है ही, मुनिवर्ग की प्रेरणा मिल जाए तो स्मारकों का निर्माण शीघ्र गति से हो जाता है।

अब तो स्मारकों पर नानाविध आयोजन भी होने लगे हैं। अन्य सम्प्रदाय के श्रद्धालु अपने पूज्यजनों की स्मृति में करते हैं तो हम पीछे क्यों रहें, इस मनोवृत्ति ने अपनी मौलिकता को दरकिनार कर दिया है। अपने पूर्व पुरुषों के प्रति श्रद्धार्पण उन्हीं के सिद्धांतों का विरोध करके किया जा रहा है। विषय चिन्तनीय है, पर समाधान प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न 5 : मल्ली भगवती के सम्बन्ध में श्वेताम्बर दिगम्बर भिन्नता क्या है, तथा क्यों है?

उत्तर- दोनों सम्प्रदायों की मूल समस्या वस्त्र की रही है। इसी समस्या के कारण मल्ली जी भी विवादित हो गई। पन्द्रह भेदी सिद्धों में स्त्रीलिंग सिद्ध

है। ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में उनका समग्र जीवन चारित्र वर्णित है जिससे किसी प्रकार की उलझन नहीं रहती। मरूदेवी से लेकर चन्दन बाला तक सभी स्त्री पात्रों का जीवन संदेह ग्रस्त हो गया। चार तीर्थों में से साध्वी तीर्थ लुप्त हो गया। अत: न्याय यही है कि पुरुष नारी में अधिक अन्तर न मानते हुए दोनों को मुक्ति का अधिकार दिया जाए। उसे तीर्थंकर पद से विभूषित देखकर जैन समाज को गर्व बोध हो न कि हीनता का अहसास। मध्यवर्ती तीर्थंकर व उनके साधक वस्त्र रखते थे। ऐसे विचार आगम ज्ञान रत्नाकर भगवन् श्री रामप्रसाद जी म. से प्राप्त हुए। देवदूष्य देवप्रदत्त मानने की आवश्यकता नहीं है, दीक्षा के समय स्वेच्छा से गृहीत वस्त्र मानना उचित लगता है-आचारांगसूत्र के नौवे अध्ययन में वस्त्र शब्द ही है देवदूष्य नहीं, यदि देवदूष्य शब्द रखना ही है तो अर्थ मंहगा किया जा सकता है, राजपरिवारों से दीक्षित होने वाले साधकों के पास बहुमूल्य वस्त्र होना संभावित है अत: मल्लीनाथ जी के संबंध में अतिरिक्त सोचने की आवश्यकता ही नहीं है। हाँ, वे साध्वी संघ के साथ रहती थीं, साधु संघ के साथ नहीं। गणधर साधुओं के मध्य रहते थे। देशना दिन में होती थी उसका दायित्व तीर्थंकर ही निर्वहण करते हैं अत: मल्ली जी करती थी।

दीक्षा के समय तो तीर्थंकर वस्त्र त्याग नहीं करते, भ. महावीर के पास भी वस्त्र था, 13 महीने रहा फिर छूट गया। आचारांग सूत्र में स्पष्ट वर्णन है-

संवच्छरं साहियं मासं जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए ततो चाई - तं वोसज्ज वत्थमणगारे॥

मध्यवर्ती तीर्थंकरों के लिये तो वस्त्र का निषेध है ही नहीं, फिर मल्ली जी कैसे छोड़ेंगी, वे सारी जिंदगी वस्त्र युक्त रहीं। देवदूष्य वस्त्र का विधान भी मिलता है कि तीर्थंकर उसे लेते हैं मध्यवर्ती तीर्थंकर वस्त्रों के प्रति न स्वयं नियमबद्ध होते हैं ना ही संघ को नियमबद्ध करवाते हैं। कुछ विद्वान ऐसा भी मानते हैं कि सभी तीर्थंकर प्राय: एक साल तक देवदूष्य वस्त्र रखते हैं फिर अचेलक हो जाते हैं किन्तु मल्लि भगवती आजीवन सचेलक रहीं, चूंकि स्त्री वस्त्ररहित नहीं रह सकती ऐसा सर्वमान्य है।

प्रश्न 6 : दिगम्बर परम्परा में केवलीभुक्ति व स्त्रीमुक्ति का सिद्धान्त पुरातन है या अर्वाचीन?

उत्तर- जैन दर्शन के प्राचीनतम ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ दिगम्बर-श्वेताम्बरों के मतभेदों का उल्लेख हुआ है, वहाँ-वहाँ स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति दो विषय ही उभरकर आये हैं, स्त्रीमुक्ति का निषेध होना दिगम्बरत्व की सुरक्षा के लिए जरूरी था। वस्त्र परिग्रह है परिग्रह मुनि के लिए त्याज्य है, 18 पापों में परिग्रह का प्रमुख स्थान है। जब तक परिग्रह रूप पाप नहीं छूटता तब तक केवल ज्ञान-मोक्ष सम्भव नहीं है। स्त्री वस्त्र त्याग नहीं कर सकती अत: उसे मुक्ति प्राप्ति सम्भव नहीं है ये निष्कर्ष सहजतया निकल जाता है। पर केवलीभुक्ति का विषय तो निष्कारण ही विरोध बीज बन गया। सम्भव है इनके किसी पूर्वाचार्य ने तीर्थंकर की महिमा गाते-गाते कह दिया हो कि वे तपस्वी होते हैं। उन्हें भूख-प्यास की परवाह नहीं होती। फिर परवाह के साथ जरूरत नहीं होती। पसीना नहीं आता आदि कुछ महानता के बखान के दौरान ये बात कह दी हो और धीरे-धीरे सिद्धान्त ही बन गया हो। अन्यथा रोमाहार केवली का माना जाता है। क्षुधा पिपासा परिषह माने जाते हैं। असाता वेदनीय कर्म का उदय भी मान्य है। केवल ज्ञान से पूर्व (अवधि एवं मन:पर्याय ज्ञान के दौरान) आहार मान्य है। जब तप करने के लिए तन मन प्रयत्नशील है तब तक कवलाहार मान्य है। फिर जब तपस्या की आवश्यकता नही तब कवलाहार का निषेध तर्कसंगत नहीं लगता, पर धार्मिक मान्यताओं के पीछे तर्क हो न हो, वे मानी जाती है। दोनों मान्यताएँ हजार डेढ़ हजार वर्ष पुरानी तो होंगी ही।

प्रश्न 7 : यति परंपरा का क्या स्वरूप है? क्या मंदिरमार्गी उनका उत्तर रूप है?

उत्तर- मंदिरमार्गीय समाज में ही दो प्रकार के साधक थे, कुछ मुनि थे जो पाद विहार करते थे, कुछ गद्दियों के मालिक थे, गद्दियों के मालिक यति कहलाते थे, दोनों की चर्या लगभग समान होती थी, दोनों एक दूसरे के पूरक समर्थक होते थे। यतियों का कार्य वैद्यक, ज्योतिष, मंत्रादि होता था,

चढ़ावा लेना, घरों में जाकर होमादि करवाना उनका काम होता था, जबकि मुनियों का मुख्य काम धर्मप्रचार, स्वाध्याय तथा रथयात्रा आदि का समायोजन होता था। दोनों ही व्यवस्थाओं के विरुद्ध आवाज उठती रही थी परंतु लोकाशाह से पूर्व किसी को सफलता नहीं मिली।

सर्वप्रथम लोकाशाह ने श्वेतांबर परंपरा के लगभग 10-20 प्रतिशत वर्ग को त्याग धर्म की ओर मोड़ा, जो लुंकागच्छ, ढूंढक मत, जिनमत के दौर से गुजरता हुआ स्थानकवासी रूप में परिवर्तित हुआ। इस क्रांति से मंदिरमार्गी मुनिवर्ग भी काफी प्रभावित हुए और उनकी जीवन शैली भी बदली, जो आज तक दृष्टिगोचर होती है। यतियों की व्यवस्था पूर्ववत् ही चली और अंततः युग-प्रवाह ने उनको नकार दिया, आज उनके अवशेष मात्र ही मिलते हैं।

प्रश्न 8 : लोकाशाह को अपनी परम्परा में श्रावक मानते हैं या साधु? यदि श्रावक थे तो आचार्यों के समान्तर नाम क्यों लिखते हैं? यदि दीक्षा मान्य हो तो मुनि शब्द क्यों नहीं लगाते?

उत्तर—आगम ज्ञान रत्नाकर भगवन् श्री रामप्रसाद जी म० लोकाशाह की दीक्षा को मान्यता नहीं देते थे। उनका तर्क था कि लोकाशाह में ये 'शाह' शब्द का शाश्वत प्रचलन गृहस्थ अवस्था को द्योतित करता है। कहीं-कहीं वार्धक्य में दीक्षा लेने का वर्णन भी मिलता है तथा दिल्ली से विहार करते-करते अलवर पहुँचने पर भोजन में विष बहराने तथा उनके देहान्त की कहानी भी सुनी जाती है। इससे ये अर्थ निकल सकता है कि जीवन के अधिकांश भाग में जब स्थानकवासी मान्यताएँ प्रचारित होती रहीं, तब तक "लोकाशाह द्वारा प्रस्तुत" सम्प्रदाय ये शब्द लोगों में प्रसिद्ध हो चुका था तथा ये आरोप भी था कि नई सम्प्रदाय साधुओं को नहीं, श्रावकों को प्रमुखता देती है। जहाँ तक स्थानकों में साधुओं के साथ उनके नाम लिखने की बात है वह तो अच्छी ही है। अपने मूल पुरुष का सम्मान करना हमारा कर्त्तव्य है चाहे वह साधु है चाहे श्रावक।

प्रश्न 9 : मुख वस्त्रिका का इतिहास कितना प्राचीन है?

उत्तर- उत्तराध्ययन सूत्र में मुंहपत्ती की प्रतिलेखना का विधान है। उपासक दशांग सूत्र में गौतम स्वामी मुंहपत्ती की प्रतिलेखना करते हैं ऐसा वर्णन आता है अत: इतनी प्राचीनता तो माननी ही पड़ेगी। सांख्य दर्शन के संन्यासी लकड़ी की पट्टी मुख पर बांधते थे जिसे उनके संघ में 'बिटिका' कहा जाता था, साख्यं संप्रदाय एक दृष्टि से वैदिकों का जैनीकरण था। उनके यहां मुंहपत्ती थी, तो जैनों में भी अवश्य रही होगी। अग्नि पुराण में जैन संतों की पहचान लिखी है **'तुण्डे वस्त्रस्य धारका:'** अर्थात् अपने चेहरे पर कपड़ा रखते हैं। इस बाह्य साक्ष्य से भी मुंहपत्ती की प्राचीनता सिद्ध होती है। लेकिन किन कारणों से मुनियों ने मुख से उतार कर इसे हाथ में ले लिया ये अभी तक स्पष्ट नहीं है, एक बार उतरी तो दीर्घकाल तक अपने सही स्थान पर नहीं लौटी। धर्म-क्रांति के पश्चात इस ओर ध्यान गया। लोकाशाह ने भी मुंहपत्ती के मुद्दे को नहीं पकड़ा।

श्री जीवराज जी महाराज ने मुंहपत्ती में डोरा डालने और स्थायी रूप से मुंह पर लगाए रखने की पुन: स्थापना की। बाद में कुछ मुनियों ने खद्दरधारी श्री गणेशी लाल जी महाराज जैसों ने श्रावकों के लिए भी अनिवार्य कर दी। श्री जयमल जी महाराज ने बड़ी साधु वन्दना में **'उघाड़े मुख बोल्या, पाप लगे इम भाख'** कहकर आगमीयता जोड़ दी क्योंकि प्राचीन टीकाओं में उत्तरासंग तथा निज्जूहण आदि की व्याख्या के समय खुले मुंह बोलने को सावद्य करार दिया है। अब कहीं-कहीं श्रावक-श्राविकाओं के लिए रसोई में मुंहपत्ती रखना जरूरी बनाया जा रहा है ताकि आहार बहराते समय पहले मुंहपत्ती बांधो फिर विनति करो, आहार दो। संत-सतियों के साथ विहारों में भी मुंहपत्ती लगाना आवश्यक बन रहा है। दीक्षा के निष्क्रमण पर दीक्षार्थी मुंहपत्ती लगाते हैं, इस तर्ज पर फेरों के समय वरवधू भी मुंहपत्ती लगाकर, अपनी साम्प्रदायिक निष्ठा व्यक्त करने लगे हैं। यही नहीं, अब कुछ मूर्तिपूजक संघ जो कठोर चर्या के समर्थक हैं, उन्होंने भी मुंहपत्ती अपनानी शुरू कर दी है।

प्रश्न 10 : मुखवस्त्रिका की 8 तह तथा 16 अंगुल व 21 अंगुल के पीछे क्या तर्कपूर्ण आधार है?

उत्तर- मुखवस्त्रिका हेतु गाथा- **''एगबीसंगुलायामा, सोलसांगुल वित्थिण्ण, चउक्कार संजुता य मुंहपोत्ति एरिसा होई'** 21 अंगुल लंबा, 16 अंगुल चौड़ा चौकोन वस्त्र मुंहपत्ती के लिए चाहिए। वायुकाय की रक्षा की दृष्टि से ही ये प्रमाण निर्धारित है, आठ पटल में से गुजरने के बाद ध्वनि परमाणुओं की घातक शक्ति मंद पड़ जाती है तथा नीचे की ओर बराबर में से भी ध्वनि के परमाणु अवरुद्ध प्रायः हो जाते हैं। मुखवस्त्रिका एक सुरक्षा उपाय है। तो परिमाण भी मध्यवर्ती ही बनाना पड़ेगा। न ज्यादा मोटा, न पतला, न लम्बा, न छोटा। बस यही रहस्य है 21x16 तथा 8 तहों के पीछे।

प्रश्न 11 : तेरापंथ के उद्‌गम का कारण-सिद्धांत भिन्नता रही या आचार भिन्नता?

उत्तर- साधारणतः संघ भेद के पीछे न सिद्धांत भिन्नता कारण बनती है, ना आचार भिन्नता। आपसी तालमेल न हो पाना। अहंभाव की पूर्ति का होना, न होना दूरियां बनाता है फिर धीरे-धीरे अलग होने के आगमिक कारण ढूँढ़ लिए जाते हैं। वे कभी सिद्धांत का नाम ले लेते हैं कभी आचार का। तेरापंथ का उदय भी संभवतः इन्हीं भावों से हुआ लगता है। बाद में किसी ने आचार नाम दे दिया किसी ने सिद्धांत। आचार्य श्री रघुनाथ जी म. की संयम शैली बड़ी कठोर तपोमय थी अतः आचरण भिन्नता कारण बनी हो लगता नहीं। तथा अहिंसा सिद्धांत की उभयमुखी व्याख्या सहस्राब्दियों से होती रही थी। न मारना अहिंसा है, मरते हुए को बचाना भी अहिंसा है। इस द्विविध व्याख्या को तो स्वीकार करना ही चाहिए। हाँ, पालनीयता अपनी-अपनी शक्ति तथा सीमानुसार ही संभव है। स्थानकवासियों ने कोई नई प्ररूपणा नहीं की थी अपितु प्रचारित आगम मान्यताओं को आगे बढ़ाया, जिन्होंने दो में से एक मत छोड़ दिया- उन्होंने नए संप्रदाय की नींव डाल दी।

प्रश्न 12 : जैन धर्म में चार शाखाएँ हैं तथा अनेक उपशाखाएँ हैं, सबके सिद्धान्त व आचार पद्धति भिन्न-भिन्न है, ऐसी स्थिति में परस्पर कैसा व्यवहार रहे, जिससे वैमनस्य न बढ़े और जिन शासन की प्रभावना हो?

उत्तर- जैन धर्म की प्रमुख दो शाखाएँ हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बरों की तीन उपशाखाएँ मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी तथा तेरापंथी और ज्यादातर की प्रशाखाएँ भी हैं। सबके अपने-अपने विधि-विधान हैं, समाचारियाँ है, व्यवस्थाएँ हैं, गुरु हैं, आचार्य हैं, अनुयायी हैं। इन समस्त भिन्नताओं के बावजूद जैन सिद्धान्त प्राय:-प्राय: समान हैं। जैनों के प्रमुख 100 सिद्धान्तों का संकलन करें तो 90 प्रतिशत सिद्धान्तों पर सहमति है 10 प्रतिशत पर असहमति, उस 10 प्रतिशत असहमति को अनेकान्त दृष्टि अपनाकर सहमति में भी बदला जा सकता है या फिर शान्ति बहाल करने के लिए उपेक्षित भी किया जा सकता है। वैमनस्य वृद्धि रोकने तथा जैनत्व का विकास करने के इच्छुकों का फर्ज है कि अपनी धर्मचर्या मान्यता का प्रचार करते हुए दूसरे की चर्या मान्यता का विरोध न किया जाए। जब जैनेतर धर्म गुरुओं, धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो अपने से भिन्न जैन सम्प्रदाय के गुरुओं, ग्रन्थों का भी अध्ययन किया जाए। पहले सभी जैनों में भाईचारा बढ़ जाए फिर धर्म की बातें हों। किसी का मतान्तरण न कराया जाए। तोड़-फोड़ से वैमनस्य बढ़ता है। उदार हृदय से धर्मगुरु मिलते रहे। टीका टिप्पणी न करें, इससे जिनशासन का गौरव बढ़ेगा।

❀ ❀ ❀

1. प्रस्तुत विषय में बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित 'स्थानक और मन्दिर' सुविस्तृत लेख पठनीय है।

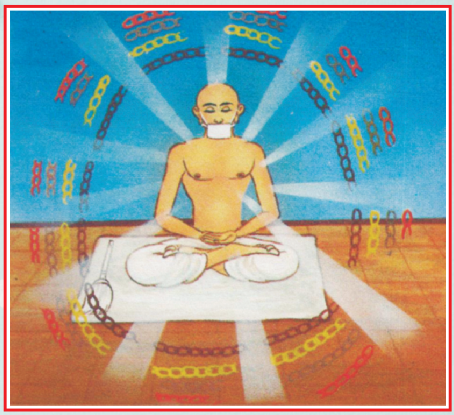

संलेखना एवं संथारा

10. संलेखना एवं संथारा

प्रश्न 1 : संथारे व आत्महत्या में क्या अन्तर है तथा किस आयु व किस अवस्था में संथारा करना चाहिए?

उत्तर– (1) संथारा और आत्महत्या का प्रथम स्पष्ट अन्तर है, जीवन की सफलता का द्योतक है संथारा, जीवन की असफलता तथा हताशा का परिणाम है आत्महत्या। मरने की इच्छा हो तो आत्महत्या, मरने की इच्छा नहीं हो पर आ गई हो तो भय या पलायन नहीं करना है संथारा। अग्नि, विष, पानी आदि किसी बाह्य साधन का प्रयोग करके जीवन को नष्ट करना आत्महत्या है, केवल भोजन नहीं करना ये संकल्प लेकर प्रभुशरण, आत्मरमण, शास्त्रस्मरण में डूबना संथारा है। मरने का प्रयास आत्महत्या है प्रयासहीनता, सहजता है संथारा, कषायों की तीव्रता होती है आत्महत्या में, कषायों की मंदतम अवस्था होती है संथारे में।

(2) ध्यान रहे कि संथारे की अवस्था में जाने से पूर्व संलेखना का अभ्यास होना अच्छा है, बारह व्रतों या 5 महाव्रतों का निरतिचार पालन–दीर्घ काल तक होना अनिवार्य होना चाहिए।

जब शरीर लगभग संयम साधना का भार उठाने में असमर्थ होने लगे पर मन पूर्णत: जागरूक हो तब संथारा शोभास्पद बनाता है। शरीर के असामर्थ्य की पहचान ये है कि भोजन भी शरीर में असमाधि पैदा करने लगे। दैनिक चर्या, ध्यान, स्वाध्याय, आत्मनिर्भरता बाधित होने लगे तब समझो, अब संथारे का उचित समय है। हाँ, सर्वकालीन संथारा ग्रहण करने से पूर्व एक–दो–तीन दिन का उपवास कर लेना ज्यादा उचित रहता है। इससे शरीर के सामर्थ्य–असामर्थ्य का आकलन भी हो जाता है तथा संथारा लेने वाले का मानसिक Stamina भी ज्ञात हो सकता है।[1]

प्रश्न 2 : संलेखना का उत्कृष्ट कालमान 12 वर्ष है, यदि उसके उपरान्त भी साधक स्वस्थ हो तो संथारा नियमा है या कोई अन्य विकल्प भी है?

उत्तर- संलेखना संथारे की पूर्व भूमिका है, जघन्य काल 6 माह, मध्यम 12 माह, उत्कृष्ट 12 साल। वर्तमान काल में संलेखनाएँ जो हो रही हैं वे आगम के विधानानुसार नहीं हो रहीं। केवल वस्तुओं का न्यूनीकरण होता है अत: ख्याल बन जाता है कि यदि संलेखना के 12 वर्ष बाद भी जीवन यात्रा चलने की सम्भावना हो तो क्या किया जाए। लगता ये है कि 12 साल की संलेखना सही ढंग से हो जाए तो शरीर तन्त्र आगे चलना सम्भव ही नहीं रहेगा। यदि फिर भी शरीर तन्त्र स्वस्थ रहता है तो संलेखना जारी रखी जाए। संथारा ना किया जाए। संथारा केवल तब जब जीवन के सब द्वार बन्द होते नजर आए, उससे पहले नहीं।

प्रश्न 3 : श्रावक की संलेखना में वर्णन है कि संथारा करते समय श्रावक प्रतिज्ञा करता है-'सव्वं पाणाइवायं... जावज्जीवाए' ऐसी स्थिति में वो साधु जैसा श्रावक गृहस्थ की सेवा कैसे ले सकता है?

उत्तर- जैसे सामायिक चारित्र वाला साधु छेदोपस्थापन से पूर्व श्रावक की भी सेवा ले सकता है, उसी प्रकार संलेखना संथारा करने वाला श्रावक अन्य परिवारजनों की सेवा ले सकता है, वह 18 पाप का त्याग करके भी महाव्रती नहीं बनता। वह सारी प्रतिज्ञाएँ करके भी ये नहीं कहता कि **''मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया''**। उस समय की श्रावक द्वारा की गई प्रतिज्ञा में और साधु व्रत लेने वाले की प्रतिज्ञा में तथा स्वरूपों में समानता भी है और असमानता भी है, जैसे सौ डिग्री टैम्प्रेचर वाले पानी में तथा सौ डिग्री पर ही जलने वाली अग्नि में। जहाँ भी सौ डिग्री टेम्प्रेचर हुआ आग बन जाती है, पर पानी भी सौ डिग्री पर जा सकता है और 0 डिग्री पर जाते ही पानी पानी भी रह सकता है और बर्फ भी बन जाती है।

दोनों में तापमान की समानता है पर तरल और ठोस रूप का अन्तर भी होता है। इसी प्रकार महाव्रती साधु और संथारे वाले श्रावक में कुछ समानता है पर संपूर्ण समानता नहीं।

प्रश्न 4 : श्रावक-श्राविकाओं द्वारा संथारा ग्रहण करने के उपरान्त साधु-साध्वी दीक्षा लेना आगम व परम्परा के आलोक में कितना आवश्यक व कितना उपयोगी है?

उत्तर- दो प्रकार की उच्चताएँ प्राप्त करना साधकों का ध्येय रहा है। श्रावकों के तीन मनोरथों में दूसरा-तीसरा मनोरथ उन्हीं उच्चताओं की ओर संकेत करता रहा है। मैं दीक्षा लूँ, संथारा लूँ, इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति बहुत बड़ी बात है, पर इनके अधिक महिमा मंडन ने दोनों क्रियाओं की गरिमा को घटाया भी है, इस महिमा मंडन से अयोग्य दीक्षा तथा अयोग्य संथारे प्रचलित होने लगे हैं, सर्वप्रथम संथारा उसे ही दिया जाए या लेना चाहिए, जिसने पूर्व में श्रावक या साधु के व्रतों-महाव्रतों का दीर्घ अवधि तक पालन किया हो, अतिचार दोषों की आलोचना तथा सबसे सच्ची क्षमापना की हो, आत्मा शरीर की भिन्नता का कुछ-कुछ बोध भी हो, पूर्ण चेतना की अवस्था हो। आजकल इन मूलभूत भूमिकाओं की उपेक्षा करके संथारे हो रहे हैं। दीक्षा के लिए गहन वैराग्य, कठोर परिषह सहने की क्षमता, विहार आदि के योग्य शरीर आदि मूलभूत भूमिकाएँ होती हैं। उनकी भी अनदेखी हो रही है। अब इससे बढ़कर संथारा लेते ही दीक्षा, दीक्षा लेते ही संथारा, ये Combination भी तेजी से पेश होने लगा है। जब शरीर सर्वथा अक्षम हो जाए तब संथारा लिया जाता है, उस अशक्त, असमर्थ अवस्था में दीक्षा का निषेध है। निशीथ सूत्र के ग्यारहवें उद्देशक सूत्र-83, 84 में असमर्थ **(न अलम्)** को छोटी-बड़ी दीक्षा देने वाले गुरु को ''गुरु चौमासी'' जैसा महान प्रायश्चित बताया है, असमर्थ की परिभाषा भाष्यकार ने 20 प्रकार से दी है, उनमें 8 साल से नीचे, 70 साल से अधिक आयु के व्यक्ति को असमर्थ कहा है। संथारे में लीन व्यक्ति से ज्यादा असमर्थ और

कौन हो सकता है, अत: संथारालीन भाई-बहन की दीक्षा शास्त्र विरुद्ध प्रतीत होती है।

आगमिक कथानक भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं, आनन्द श्रावक संथारालीन है, गौतम स्वामी वहाँ पधारते हैं, अवधि ज्ञान के विषय को लेकर चर्चा होती है, पर गौतम स्वामी ने दीक्षा लेने की प्रेरणा नहीं दी। आनन्द ने दीक्षा लेने की विनति नहीं की, महाशतक संथारे में हैं, गौतम स्वामी भगवान का सन्देश लेकर जाते हैं कि संथारे में कठोर भाषा नहीं बोलनी। तब भी दीक्षा की चर्चा नहीं हुई। चर्चा तभी सम्भव थी, जब भगवान द्वारा मान्य हो, दीक्षा तब जब दीक्षा के योग्य तन मन हो। **''जरा जाव न पीडेइ''** जब तक बुढ़ापा न आए। इन्द्रियाँ क्षीण न हो, रोग का तीव्र आक्रमण न हो, तब तक ही धर्म (चरित्र धर्म) का ग्रहण करना चाहिए, **'पच्छा वि ते पयाया'** बड़ी उम्र में प्रवज्या का भाव मरण काल में दीक्षा नहीं है, अपितु सामान्य यौवन के कुछ देर बाद ही दीक्षा से है, एक और ध्यातव्य बात ये है कि संथारे में तीन करण-तीन योग से यावज्जीवन के लिए 18 पापों का प्रत्याख्यान हो जाता है, फिर दीक्षा पाठ में क्या अतिरिक्त प्रत्याख्यान करवाया जाएगा, त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग, शरीर का त्याग करने वाले की **''सव्व सावज्जं जोगं पच्चक्खामि''** पाठ से क्या अतिरिक्त प्रत्याख्यान दिलाया जा सकता है अर्थात कुछ भी नहीं। अत: दीक्षा के तत्काल बाद संथारा, संथारा लेने के बाद दीक्षा एक नई उद्‌भावना है जिसे आगम का समर्थन नहीं है।

प्रश्न 5 : श्रावक-श्राविकाओं द्वारा बहुत पहले ये संकल्प करना कि मैं अमुक आयु के बाद संथारा ले लूँगा, चाहे शरीर पूर्णत: सक्षम ही क्यों न हो। क्या इस संकल्प को संथारे के रूप में महिमा मण्डित करना ठीक है? तथा आचार्य श्री धर्मदास जी म० द्वारा धारा नगरी में लिया संथारा सही था या जिनशासन की गरिमा हेतु बलिदान?

उत्तर- (1) आगमों में ऐसा कोई उदाहरण देखने में नहीं आया जब किसी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ने युवावस्था में प्रतिज्ञा ली हो कि मैं अमुक

आयु-सीमा के बाद संथारा ग्रहण कर लूँगा/लूँगी। पूर्ण स्वस्थ अवस्था में संथारा लेना आगमकारों को मान्य नहीं है। मानव जीवन बहुमूल्य है। इसे समाप्त करने से क्या प्राप्त होगा। अभी तो बारह व्रतों, 5 महाव्रतों के पालन से प्रचुर कर्म निर्जरा हो रही है। शीघ्र मरने से सारी निर्जरा-प्रक्रिया ठप्प हो जाएगी। चारित्र का अभाव हो जाएगा। नरक देवगति मिली तो वहाँ चारित्र मिलेगा ही नहीं। तिर्यंच में भी गए तो न्यूनतम 8-9 वर्ष तक श्रावकवृत्ति नहीं, साधुवृत्ति तो कभी नहीं तथा मनुष्य के 8-9 वर्ष तक तो चारित्र प्राप्ति असम्भव ही है अत: संथारे की शीघ्रता करना हानिप्रद ही है अत: बहुत पहले संथारे का समय निर्धारण करना उचित नहीं लगता, न ही ऐसा करने वालों का समर्थन उचित है।

(2) और रही बात आचार्य श्री धर्मदास जी म० विषयक तो कुछ निर्णय समयानुसार लिए जाते हैं और उनके औचित्य-अनौचित्य का मानदण्ड भी सार्वकालिक न होकर काल विशेष ही होता है। धारानगरी में आचार्य श्री धर्मदास जी म० का निर्णय तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं। उनके निर्णय पर प्रश्नचिन्ह भी नहीं लगाया जा सकता तो उनको आदर्श मानकर अपनाया भी नहीं जा सकता। अन्यत्र सर्वत्र लागू भी नहीं किया जा सकता। आचार्य श्री जी ने अपने साहसिक निर्णय से जैनत्व के गौरव की रक्षा की थी। पूरा Procedure Follow नहीं किया था। जैसे गजसुकुमाल जी ने दीक्षा के दिन महाकाल प्रतिमा धारण की थी। उनका उदाहरण देकर हर किसी को समय से पूर्व इस प्रक्रिया की अनुमति नहीं दी जा सकती।[2]

❀ ❀ ❀

1. प्रस्तुत विषय में बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित 'पवित्र परम्परा संथारा-एक संक्षिप्त चर्चा' लेख विशेष पठनीय है।
2. प्रस्तुत विषय में बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित विचारोतेजक-मौलिक चिंतन से अनुप्राणित सुविस्तृत लेख 'संथारे को कोर्ट नहीं समझ सका-शायद हम भी नहीं' अतीव पठनीय है।

विविध जिज्ञासाएँ

11. विविध जिज्ञासाएँ

प्रश्न 1 : जैन धर्म में गुरु धारणा का क्या इतिहास रहा है और वर्तमान में इसका क्या स्वरूप होना चाहिए?

उत्तर- उपासकदशांग सूत्र के सद्दालपुत्र अध्ययन में वर्णन है कि सद्दालपुत्र को देवता ने कहा- 'कल नगरी में महान गुरु आएंगे, तुम सेवा करना'। वह गोशालक की कल्पना से महावीर प्रभु के पास गया। श्रद्धा नहीं बनी, पर शिष्टाचार के नाते पीठ-फलकादि की विनति की। प्रभु महावीर उसकी भांडशाला में स्वयं पधारे, उसे नियतिवाद की निरर्थकता बताई। उसने समकित बदली, गुरु बदले, धारणा बदली। गोशालक आया, तो खड़ा भी नहीं हुआ। फिर उसे चुनौती दी कि मेरे धर्माचार्य से चर्चा कर लें। गोशालक ने अक्षमता जताई।

ये वर्णन गुरु-धारणा का प्राचीन रूप रहा होगा। सम्यक्त्व के पांच अतिचारों में **''पर पासंड-पसंसा, पर पासंड-संथवो''** गुरु धारणा की सांप्रदायिकता की ओर संकेत है। चंद्रगुप्त मौर्य ने आचार्य भद्रबाहु को गुरु माना ऐसा इतिहासविद् मानते है, संप्रति ने सुहस्ती को गुरु स्वीकारा और उनके संकेतानुसार जैनत्व का प्रचार-प्रसार किया। आचार्य सुहस्ती ने आचार्य महागिरि की साधना को नमन किया, पर संप्रति का जुड़ाव सुहस्ती से ही रहा। यह वैयक्तिक प्रतिबद्धता गुरु-धारणा की प्राचीन प्रथा का सूचक है। जैनों के दिगम्बर श्वेताम्बर विभाजन के बाद दोनों ने एक दूसरे को निह्नव या जैनाभास कहने में अपनी समकित की शुद्धि समझी। इससे पूर्व जैनेतर कुगुरु होते थे, अब इतर साम्प्रदायिक जैन भी कुगुरु हो गए।

स्थानकवासी, तेरापंथी संप्रदायों में भी यही मानसिकता बनी, राजस्थान आदि में स्थानकवालों ने अपने-अपने संप्रदायानुसार गुरु धारणाएं करवाईं। हमारे पूज्य गुरुदेव श्री सुदर्शन लाल जी म. का दृष्टिकोण काफी संतुलित था। उन्होंने सप्त कुव्यसन त्याग तथा कुछ सामान्य नियमों के पालन को गुरुधारणा का ध्येय बनाया। किसी अन्य संप्रदाय या धर्म से विमुख करने वाला शब्द उनके मुख से कभी नहीं सुना। केवल गुरु का नाम बता देते थे। कुछ व्यक्ति स्वतः ही जुड़ गए थे, वो अलग बात है, पर उन्होंने सप्रयास ऐसा नहीं किया। उन्होंने ध्वनि यंत्र, विद्युत-उपकरणों का स्वयं प्रयोग नहीं करते हुए भी, अपने अनुयायियों को ये धारणा नहीं दी कि विद्युत-उपकरणों के प्रयोक्ता मुनियों के दर्शन, प्रवचन-श्रवण, सेवा से श्रद्धा दूषित, खंडित होती है। एक स्वस्थ परंपरा का निर्माण ऐसे ही संभव है। गुरु-धारणा का प्रवेश अन्य धर्मों से जैनों में हुआ होगा, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न 2 : कुछ साधु-साध्वी श्रावक-श्राविकाओं को कहते हैं कि जिससे आपने गुरुधारणा ली थी वे सन्त तो दिवंगत हो गये, अब नये गुरु बनाने पड़ेंगे, ऐसा कहकर वे स्वयं की गुरुधारणा करवा देते हैं, क्या यह उचित है? आगम सम्मत है?

उत्तर- गुरु हों चाहे तीर्थंकर हों, उनकी कृपा से हमें धर्म दृष्टि मिली और हमने उन्हें अपना मान लिया तो वे देह दृष्टि से हैं या नहीं, ये तथ्य महत्त्वहीन हो जाता है। सुधर्मा स्वामी ने भगवान के निर्वाण के बाद गुरु नहीं बदले, भगवान नहीं बदले; वे उनके लिए पहले की तरह धर्माचार्य धर्मोपदेशक बने रहे। जो साधु-साध्वी श्रावकों की गुरुधारणा बदलवाते हैं, ये कहकर कि आपके गुरु का स्वर्गवास हो गया, वे साधु-साध्वी स्वयं गुरु के देवलोकगमन पश्चात् गुरु नहीं बदलते। पूज्य गुरुदेव श्री सुदर्शन लाल जी म० भी इस तरह की विचारधारा तथा भाषा के विरुद्ध थे। माता-पिता के देहान्त के बाद तब्दीली नहीं तो गुरु की तब्दीली क्यों? हाँ, गुरुधारणा को कट्टरवाद, संप्रदायवाद में नहीं बदलने देना। **''छत्तीस गुणो गुरु मज्झं''**

हर संयमी मेरा गुरु है, ये विचारधारा बनानी है। ''**सुसाहुणो गुरुणो**'' में एक गुरु नहीं अनेक गुरुओं को स्वीकार किया गया है। गुरु का देवलोकगमन होने पर किसी भी महापुरुष से ज्ञान लिया जाए। अपने व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक समाधान किये जाएँ, नजदीकी बनाई जाए, गुरुतुल्य श्रद्धा प्रस्तुत की जाए, सब जायज है पर गुरु बदलने जैसा कार्य न हो। एक अपवाद के रूप में यदि किसी साधु की गुरुधारणा की और वह संयम भ्रष्ट हो गया हो तो नई गुरुधारणा लेना निषिद्ध नहीं रहेगा।

प्रश्न 3 : बालदीक्षा क्या उचित है?

उत्तर- दीक्षा के लिए अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षा देने वाला गुरु प्रायश्चित का अधिकारी है, ऐसा निशीथ सूत्र में वर्णन है। अयोग्यों में बालक और वृद्ध दोनों समाविष्ट हैं। बालक कभी-कभी आयु के आधार पर निर्धारित होता है, जब तक बालक को चारित्र के अधिकांश विषयों का ज्ञान न हो, उनके पालन के लिए निष्ठा न बने, पालन के लिए पर्याप्त मनोबल-देहबल न हो, तब तक अयोग्य है। ये ठीक है हजारों लाखों में कोई एकाध बालक ही 8-9 साल की आयु में परिपक्व हो जाता है, उसे छोटी उम्र में दीक्षा देना आगम विरुद्ध नहीं है, पर वह दीक्षा एक आपवादिक स्थिति में दी हुई है; जैसे—भगवान महावीर के संघ में 14,000 साधुओं में केवल एवंता की छोटी उम्र में दीक्षा का वर्णन आता है। उसकी असाधारण प्रतिभा के बावजूद भगवान के युग में उनकी दीक्षा पर भी स्थविर भगवंतों को शंका पैदा हो गई थी, पर आज किसी बालक को अबोध अवस्था में दीक्षा देना भगवान की भावना के विरुद्ध सा लगता है।

प्रश्न 4 : शादियों के आडम्बर गलत हैं तो दीक्षाओं के क्यों नहीं?

उत्तर- प्रभावना, लोकरंजन, आत्मोल्लास की दृष्टि से आडम्बर चले हैं, जिन का चित्रण आगमों में प्रचुर मात्रा में मिलता है, इस कारण लगता है कि आगमों में इनका विरोध नहीं है। आडम्बरों का विरोध समाजवादी दृष्टिकोण के प्रसार के बाद हुआ है जो कि वर्तमान स्थितियों में काफी

उपयोगी है। त्यागी वर्ग के उपदेश की प्रमाणिकता भी तभी बनेगी जब वह धार्मिक आयोजनों को सादा बनवाकर गृहस्थों के आयोजनों के लिए सादगी की प्रेरणा देगा।

ठीक है कि दीक्षा आदि में इतना खर्च नहीं होता जितना कि शादी आदि में होता है। शादी में एक ही परिवार पर इतना खर्च का दबाव पड़ता है कि उसकी कमर टूट जाए जबकि दीक्षाएं सामूहिक आयोजन होने से, अनेक व्यक्तियों के शामिल होने तथा आईटमों की अल्पता एवं सजावट की न्यूनता से भार रूप नहीं बनती और इन आयोजनों से धर्म प्रभावना का भी प्रसंग बनता है, खासतौर पर स्थानकवासी परंपरा में दीक्षा आदि ही महोत्सव रूप में मनाये जाते है। जहाँ समाज के लोग माहौल में अपना प्रभाव व उपस्थिति दर्ज करवा सकते हैं। तो भी सादगी और भी बढ़े ये सबका प्रयत्न होना ही चाहिए। परंतु मेरा आडम्बर सही और तेरा आडम्बर गलत, यह भी नहीं होना चाहिए। आडम्बर कहीं भी हो गलत ही कहा जाएगा।

प्रश्न 5 : भगवान महावीर ने माता-पिता की सहमति के बिना दीक्षा न लेने का संकल्प लिया था। वर्तमान के विरक्तों के लिए दुर्बलता तथा उनके माता-पिता के लिए सशक्त तर्क नहीं है क्या?

उत्तर- सर्वप्रथम बात यह है कि हम तीर्थंकर नहीं हैं, उनके कार्य कलापों का हम अनुसरण करें, ये आवश्यक भी नहीं है, क्योंकि उनके शासन काल में ही उनका धर्मोपदेश सुनकर प्रव्रज्या के इच्छुक व्यक्ति अपने परिवार से जब भी आज्ञा के लिए निवेदन करते थे तो परिवारजन मूर्च्छित हो जाते थे। रोते-रोते विदाई देते थे। उन्हें महावीर प्रभु ने मना नहीं किया कि ऐसा मत करो।

दूसरा, भगवान महावीर ने परिवारजनों की अनुमति को तो अनिवार्य माना ही है। वह अनुमति भी अधिक कठोरता से नहीं होनी चाहिए। सत्य के प्रतिपादन, अपने दृढ़ संकल्प को जताना अलग बात है, उन्हें हर हाल में बाध्य करना, विवश करना अलग बात है। भगवान स्वयं बहुत ही करुणाशील थे, अतः अपने लिए उन्हें ऐसा संकल्प ही अच्छा लगा।

प्रश्न 6 : तीर्थंकर वर्षीदान में सभी को देते हैं या अवधि ज्ञान द्वारा देखकर सुपात्रों को ही देते हैं, क्या दान प्राप्तिकर्त्ता उसका दुरुपयोग भी करते हैं?

उत्तर- धन के दान का सुपात्र से कोई संबंध नहीं है, क्योंकि सुपात्र तो पंचमहाव्रती साधुओं को ही माना जाता है, उसे धन की जरूरत ही नहीं, अत: तीर्थंकर तो केवल एक जीताचार निभाने के लिए हर किसी याचक को दान देते हैं। वे अवधिज्ञान का प्रयोग नहीं करते। ग्रहण करने वाला उसका उपयोग अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार करता है। दुरुपयोग की व्याख्या भी उलझन भरी है। किसी गरीब ने उससे आडम्बरपूर्वक अपनी सन्तान का विवाह किया, ये सदुपयोग है या दुरुपयोग? तीर्थंकर के अधिकतर कार्य सहज भाव से होते हैं। सदुपयोग तो फिर यही कहो कि दान लिया व आगे दान कर दिया। कोई अतिधार्मिक तो उस दान से खरीदी सब्जी को भी दुरुपयोग कह सकता है। उचित है 'नेकी कर कुएं में डाल'। वे भव्यों को ही दान देते हों, ऐसा नहीं जंचता। आचारांग सूत्र, श्रुत स्कंध 2, अध्ययन-15, गाथा 111-112-113 में जिनेन्द्र भगवान के द्वारा दीक्षा से पूर्व वर्ष भर तक प्रतिदिन 1 करोड़ 8 लाख तथा वर्ष भर में 3 अरब 88 करोड़ 80 लाख स्वर्णमुद्राओं के दान का उल्लेख है परन्तु वे भव्यों को ही दान देते हों, वहाँ ऐसा कोई जिक्र नहीं है।

प्रश्न 7 : पूज्य महापुरुषों के नाम के आगे लगने वाले 1008 संख्या के पीछे क्या रहस्य है?

उत्तर- नाम से पूर्व 1008 या 108 लगाने की परंपरा हजार वर्ष पुरानी तो होनी ही चाहिए। इसके पीछे क्या रहस्य है- इस विषय में कोई गहन और ठोस सामग्री नहीं मिलती। फिर भी ये समझाया जाता है कि जैसे सामान्य मानव नाम बताने से पूर्व 'नाम तो भगवान का है, मुझे तो .... कहते हैं' ऐसा कहता है। आगम ग्रन्थों में तीर्थंकर भगवन्तों के 1008 शुभ लक्षण बताए गए हैं इसी तरह पुराने संतों का ये कभी रिवाज रहा होगा। गुण भगवन्तों के 1008, मुझे सोमप्रभ कह देते हैं''। अजान में बोली जाने वाली आयत

(नमाज) के सभी शब्दों को अंकों में लिखने पर जोड़ 786 बनता है, अत: मुसलमानों में महत्वपूर्ण बात लिखने से पूर्व 786 लिखने का रिवाज है। इसी प्रकार हमें अपने भगवंतों को गणित की भाषा में याद करना या करवाना हो तो 1008 या 108 लिख देते हैं। फिर अन्य प्रस्तुत साधु-साध्वी का नाम लिख देते हैं। कुछ अर्से के बाद 1008 सिर्फ आचार्य के साथ लिखा जाने लगा। राजस्थान आदि में आचार्य के सहवर्ती शिष्यों को आचार्य से छोटा जताने के लिए 1007, किसी-किसी को 1006 तथा सतियों को 1005 भी लिखने की परंपरा पड़ गई, जिसमें कोई खास दम नहीं है। हमने एक विनती पत्र देखा था जिसमें आचार्य को सम्बोधित करते हुए "श्री श्री श्री श्री" इस तरह 1008 बार लिखा था, अब तो "श्री श्री 1008' यों लिखकर काम चला लिया जाता है।

प्रश्न 8 : सोलह सतियां सोलह ही क्यों?

उत्तर- 16 सतियों के नामों में भी क्वचित 2 अन्तर हैं तथा ये 16 नाम ही क्यों चुने गए इसके पीछे कोई तर्क नजर नहीं आता। इन नामों का प्रचलन किस युग में हुआ, ये भी अस्पष्ट है। इन महासतियों में कुछ तो ऐतिहासिकता लिए हुई हैं। कुछ साध्वी बनी, कुछ नहीं भी बनी। कुछ मोक्ष में गई, कुछ देवलोक में; अत: इनकी संख्या तथा चयन का आधार कारण अज्ञात है।

प्रश्न 9 : तीर्थंकर भगवन्तों की शासन देवियों की मान्यता क्या आगम सम्मत्त है?

उत्तर- आगमों में इन देवीयों का कोई उल्लेख नहीं है। श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में भगवान महावीर के लगभग 980 साल बाद आगम लिपिबद्ध हुए तब तक इन शासन देवी, देवताओं की धारणा नहीं उभरी थी। जैसे-जैसे जैनसंघों में मंदिरों का बाहुल्य बढ़ा तो वैसे-वैसे हिंदू देवीदेवताओं के अनुकरण पर जैन देवी देवताओं का अस्तित्व उभरकर आया। राम के साथ हनुमान की, वैष्णों देवी, दुर्गा आदि की स्थापना की तरह जैनों को भी ऐसे भक्त देव देवियों की आवश्यकता महसूस हुई और इस आवश्यकता ने

शासन देव देवियों का आविष्कार कर दिया। जैनों के लिए शासन देव देवियों की स्थापना करना और ज्यादा जरूरी था क्योंकि जैनों से अन्यतीर्थिक प्रश्न करते थे कि आपके तीर्थंकर भगवान तो स्तुति से प्रसन्न नहीं होते फिर आपकी कामनाएं कौन पूरी करेगा। जैनों ने कहा तीर्थंकर स्वयं प्रसन्न होकर इच्छा पूर्ति नहीं करते अपितु उनके भक्त देवी देवता इच्छा पूर्ति करते हैं। भक्त देवी देवता कौन होते हैं इस प्रश्न का समाधान देने के लिए शासन देवी देवताओं की धारणा बन गई लगती है।

प्रश्न 10 : प्रेत बाधा, जिसे ओपरी पराई कहते हैं उनका क्या स्वरूप है तथा क्या वे किसी का हित अहित कर सकते हैं?

उत्तर- आगमों में व्यंतर देवों की प्रजातियां भूत-प्रेत स्वीकार की गईं 'मुद्गर पाणी यक्ष' जैसे आख्यान भी मिलते हैं तथा यक्षावेश की मान्यता स्वीकार की गई है। वहाँ कहा है कि मोहनीय कर्म का उन्माद देर से उतरता है। यक्षावेश का उन्माद (पागलपन) जल्दी उतर सकता है। इन आगमिक पाठों के अस्तित्व तथा लोकमान्यताओं की निरंतरता के कारण जैन साधु-साध्वी भी किसी अप्राकृतिक व्यवहार वाले मानव को देख कर कह देते हैं कि ये व्यंतर देव का प्रकोप है जबकि वर्तमान में उपलब्ध 99.9% cases में मानसिक रोगों का उभार ही अस्वाभाविक आचरण का कारण बनता है। लेकिन मनोविज्ञान की समझ बहुत कम व्यक्तियों के पास होती है। मानसिक रोगों की दवाएं भी पर्याप्त मात्रा में आ चुकी हैं। धैर्य से दवा कराई जाए, कुछ counselling ली जाए तो भूत प्रेत बाधा जिसे समझा गया था, वह रोग आसानी से दूर हो सकता है।

एक निश्चित मानदंड अपने चिंतन में set कर लें। यदि किसी व्यक्ति को दवाई लेने से एक आध प्रतिशत भी परिवर्तन होता है तो वह भूत प्रेत का प्रकोप नहीं है क्योंकि भूत प्रेत आदि दवा से दूर नहीं किए जा सकते। व्यंतर देवों का अपना स्वतंत्र संसार है, उनका हमारे सामान्य जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं होता। हाँ, यदि सचमुच ही भूत प्रेत आपकी जिंदगी

में दखल दे रहे हैं तो वे हित अहित भी कर सकते हैं। जैसे एक आदमी दूसरे आदमी का भला बुरा कर सकता है, ऐसे ही देव देवी भी कर सकते हैं।

प्रश्न 11 : जाप, पाठ, तंत्र-मंत्र, यंत्र क्या व्यक्ति के कार्य को सिद्ध कर सकते है?

उत्तर- पाठ, जाप, मंत्र आदि मानव मन को ऊर्जावान बना देते हैं। पाठ करने से उसके मन में धैर्य बन जाता है कि मेरा कार्य सिद्ध हो जाएगा। Positivity बन जाती है। समय बीतते-बीतते कार्य सिद्ध हो जाते हैं और भरोसा बन जाता है कि मंत्र ने मेरा कार्य पूरा करवा दिया। अकेले मंत्र तंत्र के शब्दों, विधियों, अनुष्ठानों में ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि मानव की कामनाएं पूर्ण कर सकें। पाठ करते-करते भी अनेकानेक कार्य अधूरे रह जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि मंत्र तंत्र नहीं मानव की मानसिकता ही कार्य संपन्नता का मूल कारण है। संभव है इन वाक्यों से किसी को अश्रद्धापोषण मिले पर साफ लिखने से मिथ्याभ्रांति भी बच सकती है, केवल आश्वासनों से गुजारा करने की बजाय शुद्ध समाधान की दिशा पकड़ना अच्छा लगता है। हाँ, इन पाठों से मानसिक उत्साह तो बढ़ता ही है, और कभी-कभी वही उत्साह कार्यसिद्धि में सहायक भी हो जाता है।

प्रश्न 12 : पूर्व-उत्तर दिशा में बैठकर धर्माराधना आदि विशेष कार्य करना अधिक महत्वपूर्ण क्यों है? अर्थात् क्या दिशाएं हमारे कार्यों को प्रभावित करती हैं?

उत्तर- आगमों में स्वाध्याय, दीक्षा आदि अनेक कार्यों के लिए पूर्व तथा उत्तर दिशा की आज्ञा है। पर कारण नहीं बताया। पश्चात् काल में लेखकों ने अवश्य लिखा कि पूर्व दिशा सूर्योदय के कारण प्रेरणादायक है तथा उत्तर दिशा में मेरू पर्वत स्थित है जो की स्थिरता का प्रतीक है। प्रेरणा भरने वास्ते ये दोनों दिशाएँ शुभ मानी गईं। इन पाठों के अलावा लोकमान्यता भी

दिशाओं की शुभता अशुभता को पुष्ट करती है। वास्तुशास्त्र के नए प्रचलन ने इस धारणा को ज्यादा बल प्रदान कर दिया। मानव के आचार विचारों की उपेक्षा हो गई। दिशाएँ महत्वपूर्ण हो गईं। इस मान्यता का कोई तर्कसंगत आधार अभी तक समझ में नहीं आया। पर आगमादेश का निषेध करने का अधिकार भी हमें नहीं है।

प्रश्न 13 : भक्तामर आदि में आए आठ महाप्रातिहार्य तथा चामत्कारिक विशेषताएं वास्तविक है या भक्त कवियों की कल्पना?

उत्तर- जैन शासन में मूर्ति मंदिर प्रवेश के साथ-साथ अनेकानेक मान्यताएँ, प्रथाएँ, परंपराएं भी प्रविष्ट हुईं। क्योंकि मूर्ति का प्रवेश अंगबाह्य आगमों के निर्माण काल में हो चुका था। इस कारण उन नई मान्यताओं का उल्लेख आगमों में हो गया। वर्तमान काल में ये संभव नहीं कि उन नए प्रविष्ट पाठों को पृथक् किया जा सके। महाप्रातिहार्य के विषय में भी यही दृष्टिकोण उचित रहेगा। वैसे महाप्रातिहार्य का उल्लेख आगमों में अत्यल्प है, कथा साहित्य, स्तोत्र साहित्य में ही इन प्रातिहार्यों का व्यापक वर्णन है जो कि आलंकारिक अधिक है वास्तविक कम। भगवान महावीर जैसे सर्वत्यागी, वीतरागी, अपरिग्रही व्यक्तित्व के साथ सिंहासन, छत्र, चँवर आदि का संयोजन बड़ा अजीब लगता है, आगमों में अधिकतर उनकी धर्मसभा का जिक्र करते हुए उन्हें **'पृथ्वी शिला पट्ट'** पर उपविष्ट किया है (विराजित दिखाया है) लेकिन जब उन्हें राजा के, महाराजा के रूप में पेश किया जाने लगा तो राज्य - महाराज्य के प्रतीक सिंहासनादि जोड़ने आवश्यक हो गए। छत्र भी एक नहीं, तीन-तीन बनें क्योंकि ये तो तीन भुवन के स्वामी हैं। फूलों की वर्षा तो जैनों की अहिंसा वृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल थी पर महानता के दर्शन तो करवाने ही पड़ेंगे और उसके लिए फूलों की बरसात जरूरी थी। वैसे आजकल उन फूलों को अचित्त (वैक्रिय) कहकर बचाव किया जाने

लगा है। भगवान महावीर तो बहुत प्राचीन युग में हो चुके हैं, कुछ अर्वाचीन व्यक्तित्व भी इस श्रद्धा भक्ति के कारण प्रातिहार्य मण्डित हुए हैं। जैसे कि कबीर भक्त कवि थे, जुलाहा थे, जीवन पर्यन्त फक्कड़ वृत्ति से गुजारा किया पर आज उनके अनुयायियों के घरों में उनको सिंहासनासीन, छत्राच्छादित, चंवरान्दोलित, वैभव सम्पन्न महापुरुष के रूप में चित्रित किया हुआ है। भक्तजन अपने पूज्यों का साधारणत्व कैसे स्वीकारें? सामान्य साधु-साध्वियों के Photos में मस्तक के चारों और भामण्डल का अंकन अतिसामान्य बात है। ऐसा ही तीर्थंकरों के साथ भी हो सकता है।

प्रश्न 14 : भक्तामर आदि स्तोत्रों के साथ समय व स्थान की प्रतिबद्धता है या नहीं?

उत्तर—वैसे तो किसी भी धार्मिक स्वाध्याय के लिए समय और स्थान की प्रतिबद्धता नहीं है, परन्तु काफी लम्बे अरसे से आगमों के पठन-पाठन को लेकर काफी आग्रहशीलता बन गई। उस आग्रह को कम करने की बजाय हमारे पश्चाद्वर्ती सन्त-सतियों ने स्तोत्र-पाठों के साथ भी समय की प्रतिबद्धता जोड़ दी। पहले तो ये कहते थे कि आगमों की भाषा अर्ध मागधी है, देवता भी अर्ध मागधी में बोलते हैं। वे किन्हीं खास समयों पर पृथ्वी पर आते हैं अशुद्ध उच्चारण सुनकर कुपित हो सकते हैं पर भक्तामर, कल्याणमंदिर आदि स्तोत्र संस्कृत निबद्ध हैं, उन पर ये दलील लागू नहीं होती, फिर कहा जाने लगा कि ये पाठ किसी खास समय पर करने पर ही अपना फल देते हैं, भिन्न समय पर नहीं, धीरे-धीरे आनुपूर्वी, बड़ी साधु वंदना आदि के पठन-पाठन के ऊपर भी समय की प्रतिबद्धता लाद दी गई। औचित्य तो किसी का नहीं है, फिर भी आगमों के प्रति प्रतिबद्धता नहीं हटती तो निभाते रहे पर अन्य स्तोत्रों को तो बचाने में ही फायदा है।

प्रश्न 15 : जैन और बौद्ध धर्म की समानता और असमानता क्या है? बौद्ध धर्म के अधिक विस्तार का क्या कारण रहा?

उत्तर- भारतीय चिन्तन धारा में वैदिक और श्रमण परंपराओं ने दो आयाम प्रस्तुत किये। वैदिक परंपरा के ऋषियों ने लोक समृद्धि का मार्ग चुना और यज्ञ यागादि को प्रश्रय दिया। श्रमण परंपरा ने आत्मशांति, निर्वाण जैसी आध्यात्मिक प्रतिपत्तियां प्रदान की तथा त्याग तपस्या आदि विधियों को बढ़ावा दिया। श्रमण परंपरा की विविध शाखाओं में वर्तमान काल में केवल दो ही शाखाएं जीवित हैं जैन और बौद्ध।

दोनों धारायें भिक्षुधर्म, संन्यास को अधिमान देती हैं, वेद की प्रामाणिकता दोनों ने अस्वीकार की। जातिवाद एवं वर्णव्यवस्था का विरोध दोनों ओर से हुआ। निवृत्ति-परकता दोनों की पहचान रही तथा अहिंसा धर्म को दोनों ने खुलकर प्रचारित-प्रसारित किया। इन समानताओं के बावजूद कुछ भिन्नताएँ भी रहीं। सर्वप्रथम जैनों का इतिहास भगवान महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ अरिष्टनेमि आदि 24 तीर्थंकरों से जुड़ा हुआ था उनके पास अतीत का दीर्घ अनुभव था। बौद्धों को सब कुछ महात्मा बुद्ध से प्राप्त हुआ। भगवान महावीर त्याग तप के मामले में काफी कठोरता के पक्षधर थे जबकि बुद्ध मध्यममार्गी रहे। जैनों की अहिंसा, विशेषत: साधुओं की अहिंसा में स्थावर की प्रधानता भी रही जबकि बौद्धों की अहिंसा मानवीय व त्रस स्तरों पर मण्डराती रही। उन्होंने मांसाहार का समर्थन भले ही न किया हो पर सख्त पाबन्दी भी नहीं लगाई। जैनों की पैठ समृद्ध वर्ग पर अधिक रही जबकि बौद्धों की पहुंच समाज के निम्नतम वर्ग तक भी गई। जैनभिक्षुओं में आत्म कल्याण की भावना बलवती रही जबकि बौद्धभिक्षुओं ने लोक कल्याण के लिए भी अभियान चलाए। बौद्धों की रुचि संख्यात्मक विस्तार पर रही तो जैनों की रूचि गुणात्मक गहनता पर जमी। इन विशेषताओं के कारण बौद्ध धर्म विश्वक्षितिज पर छाया तथा जैन धर्म भारतीय धरा को संस्कारित करता रहा। उस धर्म के फैलने के पीछे केवल ये ही कारण पर्याप्त नहीं माने जा

सकते। कुछ संयोगिक-आकस्मिक कारण भी बने। जैसे कि सम्राट् अशोक का बौद्ध धर्म को स्वीकार करना तथा उसके पुत्र महेन्द्र, पुत्री संघमित्रा का दीक्षित हो कर धर्मप्रचारार्थ विदेश जाना। उस एक घटना ने बौद्ध धर्म के विस्तार को पंख लगा दिए। राजकीय संरक्षण पाकर बौद्ध भिक्षुओं का मनोबल बढ़ गया और मिशनरी उत्साह से वे समग्र एशिया में छा गए। वह युग धर्मान्तरण के लिए उपयुक्ततम था। विश्वभर में किसी एक मसीहा की प्रतीक्षा थी, और बौद्धों ने वह रिक्तता पूर्ण कर दी। एक बार परिपाटी तैयार होने के बाद उसको आगे बढ़ाने की विधियाँ ईजाद होती रहती हैं और बौद्धों ने उनका भरपूर लाभ लिया। जैन संघ में भी संप्रति के युग में ऐसे ही छिटपुट प्रयास हुए।

जिनकल्प स्थविरकल्प की भिन्नता रही। दिगम्बर श्वेताम्बर बँटे और जैन साधुओं का पाद विहार आदि कठोर चर्या भी अधिक विस्तार में बाधक रही। अंततः जैनों को अपनी सीमाओं में रहकर ही संतुष्ट रहना पड़ा।

प्रश्न 16 : क्या गौतम बुद्ध ने कुछ समय के लिए जैन दीक्षा ली थी ऐसा सुना है?

उत्तर- बौद्ध त्रिपटकों में जहां बुद्ध का साधनाकाल वर्णित है, उनमें लिखा है कि बुद्ध ने गृहत्याग करके कई धर्मगुरुओं के पास साधना सीखी पर संतुष्टि नहीं मिली। उसी क्रम में उन्होंने एक बार एक साल के लिए जो साधना की, उसका वर्णन पढ़ते हुए स्पष्ट होता है कि वे जैन मुनि की साधना कर रहे थे। Mrs Rhys David ने अपनी पुस्तक 'Buddhism and Viashali – p.9 "The Public Relations Department Bihar" में लिखा है कि बुद्ध ने वैशाली में जैन साधना की थी। उस साधना का निम्न वर्णन किया है :-

मज्झिमनिकाय में गौतम बुद्ध अपने संन्यासी जीवन और उसी साधना के विषय में स्वयं प्रकाश डालते हैं जो कि जैन साधु की साधना के समान ही

है। वह कहते हैं- ''इस प्रकार हे सारिपुत्र! मैंने अपनी साधना की, मैं निर्वस्त्र रहा, मैंने अपने हाथों से चाटकर अपना भोजन किया''

''भंते! यहाँ पधारो, भंते! यहाँ निवास करो'' मैंने ऐसे कोई निमंत्रण स्वीकार नहीं किया। मेरे लिए क्रीत अथवा विशेष रूप से तैयार किए गए या रखे गए भोजन को मैंने कभी ग्रहण नहीं किया। मैंने भोजन के लिए कभी निमंत्रण स्वीकार नहीं किया। मैंने बर्तन अथवा थाली में कभी भोजन नहीं किया। मैंने कभी दरवाजे के बाहर से (अर्थात अंदर से लाई गई भिक्षा) खिड़की से, अथवा आवाज करने वाले स्थान से भोजन नहीं लिया। मैंने एक साथ भोजन कर रहे दो व्यक्तियों से, गर्भवती, दुग्धपान करा रही अथवा भोगरत महिला से कभी भोजन ग्रहण नहीं किया। जहाँ कुत्ता खड़ा हो, मक्खियाँ भिनभिना रही हो ऐसी जगह से भी भोजन नहीं लिया। माँस, मछली विभिन्न प्रकार के मद्य आदि का भी सेवन नहीं किया''

इन सबसे यह सिद्ध होता है कि महात्मा बुद्ध ने पहले जैन विधि से साधना की थी क्योंकि उनकी गोचरचर्या जैनों के अलावा अन्य मतों से नहीं मिलती है, अत: ये इतिहासज्ञों का निर्णय है कि वे उस दौरान जैन मुनि बने थे और चूंकि तब तक प्रभु महावीर का धर्म शासन अधिक प्रचलित नहीं हुआ था अत: वे पार्श्व प्रभु के संघ में ही प्रव्रजित हुए होंगे। उन्होंने भगवान महावीर का तो विरोध ही किया है अत: उनका वहां दीक्षित होना प्रमाणित नहीं होता। वे दोनों कभी मिले भी नहीं तथा भगवान पार्श्व के मुनियों का शैथिल्य तथा बुद्ध का मध्यम मार्ग कुछ-कुछ समानता लिए हुए है जबकि प्रभु महावीर का कठोर मार्ग तालमेल नहीं रखता।

प्रश्न 17 : क्या एकेंद्रिय जीवों में हर्ष शोक की अनुभूति और अभिव्यक्ति संभव है जैसा कि वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बसु की वनस्पति पर की गई खोजें बता रही हैं?

उत्तर- आगमों में एकेंद्रिय जीवों में साता-असाता वेदनीय का उदय भी माना है तथा हास्य, रति, शोक, भय आदि भी माने हैं। चार कषाय, चार

संज्ञाएं भी स्वीकारी हैं। पर उनकी प्रत्येक अनुभूति मूर्छित मनुष्य के तुल्य होती है। Coma में पड़े आदमी के अंग विकृत हो रहे हैं तो असाता है, अविकृत स्वस्थ चल रहे हैं तो साता है पर उसके Brain पर उस साता असाता का अंकन नहीं होता तथा हास्य, शोक, कषाय, संज्ञा, लेश्या आदि 'अनाभोग'- unconscious level की होती है। अस्तित्व के स्तर पर सब कुछ है पर अनुभूति के स्तर पर कुछ नहीं।

जगदीश चन्द्र बसु ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु जीवों की चेतना का अध्ययन नहीं किया, उनकी चेतना इतनी सूक्ष्मतर स्तरों की होती है कि केवली के अलावा उनकी अनुभूति को नापने का साधन किसी के पास है ही नहीं, परन्तु वनस्पति की चेतना कुछ-कुछ विकसित स्तर पर आ जाती है। उसका वैज्ञानिक वर्णन आचारांग सूत्र प्रथम अध्ययन में सुन्दर ढंग से किया है। **'इमंपि जातिधम्मयं-एयंपि जातिधम्मयं'** वनस्पति का उगना, बढ़ना, मुरझाना, मरना आदि कई रूप है जिन्हें वैज्ञानिक यंत्रों ने Note किया है। उसी विकास-ह्रास की प्रक्रिया को खिलना, सिमटना, हंसना, शोकग्रस्त होना कह दिया जाता है। वनस्पति की अनुभूति अन्य एकेन्द्रियों से उच्चतर है, उसी अनुपात में उनके शरीर पर अभिव्यक्त भी हो जाती है पर त्रस जीवों की तुलना में सब कुछ ना के बराबर।

प्रश्न 18 : आचाराँग सूत्र में एकेन्द्रिय जीवों की वेदना को विकलांग मनुष्य की वेदना के सदृश दिखाया है, क्या वास्तव में उन्हें वेदना की इतनी अनुभूति होती है?

उत्तर—आचाराँग सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध प्रथम अध्ययन द्वितीय उद्देशक में **''अप्पेगे अंधमब्भे-अप्पेगे अंधमच्छे''** पाठ में मानव शरीर के 32 अंगों (Parts of Body) का वर्णन है। आगमकार ये बता रहे हैं कि हिंसक मानव अन्य मानव के प्रत्येक अंग का छेदन-भेदन कर देता है, क्योंकि उसके दिल में दया का भाव नहीं है, आगमकार पैर के तलवे से लेकर मस्तक तक सभी अंगों का उल्लेख करते हैं परन्तु टीकाकार शीलांकाचार्य ने न जाने क्यों अंध शब्द का मूलभाव नहीं पकड़ा और लिख दिया कि जैसे

अंधा, बहरा, गूँगा मानव चोट खाकर अपनी पीड़ा को प्रकट नहीं कर पाता। ऐसे ही पृथ्वी काय के जीव वेदना को भोगते तो हैं परन्तु बता नहीं पाते। इस अनुवाद का ये आशय बाद के प्रत्येक लेखक ने स्वीकार कर लिया। इस अविचारित स्वीकृति ने एकेन्द्रिय जीवों की तथा पंचेन्द्रिय मनुष्यों की अनुभूति क्षमता को समान बता दिया जबकि दोनों में बहुत बड़ा मौलिक अन्तर होता है, इस अनुभूति समानता के सिद्धान्त के कारण प्ररूपणाओं का स्वरूप बदल गया। Fruit पर नमक डालने को मनुष्य के जख्म पर नमक छिड़कने के बराबर कहा जाने लगा। नमकदानी में नमक पर चम्मच रखने को मानव पर पत्थर रखने की उपमा दी जाने लगी। न जाने कहाँ-कहाँ तक प्रवचनकार पहुँच गये। एक छोटी सी अनुवाद की भूल ने जैनत्व का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया। वस्तुत: अंधमब्भे का अर्थ है कि पैर के तलवे का छेदन-भेदन। इस अर्थ के अलावा अन्य कोई अर्थ प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न 19 : हिंसा-अहिंसा का आधार हमारे भावों की तरतमता है या सामने वाले जीव के विकास की न्यूनाधिकता?

उत्तर—जैन धर्म भावप्रधान रहा है, वे भाव दया के हो, चाहे क्रूरता के। परन्तु भावों के निर्माण में दया और हिंसा के पात्र जीव निमित्त बनते हैं। वे जीव भी हिंसा-अहिंसा में बड़ा रोल अदा करते हैं; अत: उपेक्षणीय नहीं है। एक मनुष्य पानी पीता है, अंगीठी जलाता है, नमक का प्रयोग करता है, आम, अनार खाता है। उसके मन में केवल आवश्यकता पूर्ति ही ध्येय होता है, न कि उन जीवों को परेशान करना या मारना। वे उनके प्रति कभी क्रूर नहीं होता, हाँ कभी-कभी उनका अनावश्यक प्रयोग तो कर लेता है। उससे बचने के लिए सावधानी रहे, तदर्थ अनर्थदण्डविरमण व्रत का प्रावधान दिया गया।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या कीड़े-मकोड़ों के प्रति वह कभी-कभी गुस्से के भाव से भर जाता है। मच्छर पर प्रहार भी करता है, कीड़ी आदि को भी मार देता है, पर तीव्र क्रूरता उन पर भी नहीं बनती। आगे चलिए

बैल, भैंस, घोड़े के प्रति वह कठोर-क्रूर होकर चाबुक प्रयोग भी कर देता है, अधिक वजन भी लाद देता है, हिरणों, जंगली पशुओं पर तीर-गोली मारकर शिकार भी कर लेता है, क्रूरता खूब हो जाती है, पर प्रतिशोध, युद्ध, शस्त्रास्त्र सेना द्वारा लम्बी लड़ाई वह मनुष्यों से ही करता है। इस तरह भावों की उच्चावच अवस्थाओं के निर्माण में उन जीवों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, जो हमारे सम्पर्क में आते हैं। हिंसा की तरह अहिंसा के भावों के निर्माण में भी जीवों के विकास का हाथ होता है। दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। फिर भी भावों का महत्त्व अधिक है, जीवों के विकास का कम।

प्रश्न 20 : मिथ्यात्व सम्यकत्व का संबंध कुछ मान्यताओं, क्रियाओं की स्वीकृति अस्वीकृति से है या कषायों की न्यूनाधिकता से?

उत्तर- काफिर, मोमिन, Thiest, Athiest, आस्तिक-नास्तिक इन जैसे शब्दों का प्रयोग होता रहा है। उन शब्दों का Stress Point होता है कि हमारे यहाँ प्रचलित मान्यताओं को मानना सम्यक्त्व है तथा अन्य मान्यताओं को स्वीकारना मिथ्यात्व है। जैन परम्परा कहती है कि अरिहंत मेरे देव हैं, सच्चे साधु गुरु हैं, जिनप्रज्ञप्त तत्व है। यह सम्यक्त्व ग्रहण करता हूँ तथा इससे भिन्न गुरु एवं धर्म का परित्याग करता हूँ, फिर देव, गुरु, धर्म का सर्वांगीण विवेचन मिलता है। इन शब्दों को आधार मानते हुए भी दिगम्बर और श्वेताम्बर परंपराएं स्वयं को सम्यक्त्वी तथा इतर को मिथ्यात्वी कहते हुए संकोच नहीं करती। यदि इन्हीं मान्यताओं को और अधिक खींचते चले जाएं तो फिर श्वेताम्बरी भी सम्यक्त्वी श्वेताम्बरी, मिथ्यात्वी श्वेतांबरी दो भागों में बंट जाएंगे। स्थानक वाले मूर्तिपूजकों के किसी-न-किसी बिन्दु को मुद्दा बनाकर मिथ्यात्वी करार दे देते हैं तथा वे हमें मिथ्यात्वी बता देते हैं एक अंतहीन अव्यवस्था बनती जाती है तटस्थ श्रोता के लिए। इसलिए क्यों ना सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को मान्यताओं, धारणाओं, क्रियाओं के घेरे से निकालकर आत्मगुणों के विकास और अविकास के साथ जोड़कर देख लें। इस पद्धति से निर्विवादता तो बनेगी ही, साथ ही परिवर्तन की भूमिका भी

तैयार होगी। चलो, सरल शब्दों के माध्यम से समझने का प्रयास कर ले। संसार को जानना ज्ञान है या मिथ्या ज्ञान या फिर अज्ञान है, स्वयं को जानना सम्यग् ज्ञान है। स्वज्ञान के बिना अन्य सारा ज्ञान सम्यग ज्ञान नहीं है। हाँ स्व का ज्ञान होने पर, पर का ज्ञान भी सम्यग ज्ञान बन सकता है। स्व के ज्ञान का भाव है स्व के गुण और दोषों का ज्ञान। अपने गुण-दोषों के ज्ञान के बाद गुणों को बढ़ाने की रूचि, इच्छा और तैयारी, दोषों को घटाने की रूचि, इच्छा और तैयारी सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) है। खंत्ती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, स्वगुण है, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ दोष है। इन्हें बढ़ाने घटाने का प्रयत्न सम्यग्चारित्र है। इन शब्दों के अन्दर प्रवेश करने पर पता चलता है कि हमारे दोषों का जब अनन्तानुबंधी स्तर छूट जाता है तब जाकर स्वकल्याण की रूचि जागृत होती है। उस रूचि जागरण के बाद शरीर और आत्मा की भिन्नता का अहसास होने लगता है। कुछ विचारक इस अवस्था को सम्यक्त्व मानते हैं। शरीर-आत्मा के भेद ज्ञान के बाद शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्था जैसे गुण आविर्भूत होने लगते हैं। जिन्हें व्यवहार समकित के लिंग कहा जाता है। इन गुणों के प्रकट होने में जो महापुरुष जो ग्रंथ, जो परंपराएँ, मान्यताएं अधिक सहायक बनती हो उन्हें अपनाना, अन्यों से दूरी बना लेना या हो जाना, सहजतया ही हो जाता है। उस दशा में कट्टरता-सांप्रदायिकता नहीं होती सामान्य प्रक्रिया ही होती है अतः वहां तक भी सम्यक्त्व की सुरक्षा रहती है। पर यह अवस्था अन्यों से दुश्मनी में, अपनी सोच के प्रति आग्रहशीलता में बदल जाती है तो सम्यक्त्व न रहकर धर्मांधता बन जाती है। जो अनन्तानुबंधी आदि कषायें शांत हुई थीं वे पुनः उभर आती हैं। मानव सोचता रहता है, बोलता रहता है कि मैं सम्यक्त्वी हूँ। पर वास्तव में वह मिथ्यात्व में आ चुका होता है। ऐसी स्थिति में सम्यक्त्व की भाषा होती है, पर मिथ्यात्व का जीवन चलता रहता है।

प्रश्न 21 : सम्यक्त्व के दूषणों में परपाखण्डी परिचय व पर पाखण्डी संस्तव से बचने का संकेत किया है, क्या यह धार्मिक संकीर्णता नहीं है?

उत्तर- सन् 1969 में पूज्य गुरूदेव श्री सुदर्शन लाल जी म. के चरणों में अलवर के राजकुमार आए थे उन्होंने कहा कि **'स्वधर्मे मरणं श्रेयः पर धर्मोभयावहः'** अपने धर्म में मरना ही अच्छा है दूसरे के धर्म में जाना खतरनाक है; अतः जैन धर्म कितना भी अच्छा हो हमें तो अपने ही धर्म में जीना मरना है। तब पूज्य गुरूदेव जी ने फरमाया था स्व धर्म का अर्थ है- आत्मा का मूल स्वरूप (शांति, क्षमा आदि) तथा परधर्म का अर्थ है पौद्गलिक-भौतिक स्वरूप वह है क्रोध, अहंकार आदि कषायें। इनमें जाना खतरनाक है। स्वधर्म में जीना, मरना श्रेष्ठ है। यही अर्थ सम्यक्त्व के चौथे पांचवे अतिचारों का लगा लेना उचित रहेगा। पर पाखण्ड प्रशंसा अर्थात् आत्मा से दूर ले जाने वाले व्यक्ति, संस्था, ग्रंथ होते हैं। उनके निकट नहीं जाना ये चेतावनी इन शब्दों से दी गई लगती है तथा शंका, आकांक्षा विचिकित्सा बढ़ाने वालों का परिचय, प्रशंसा भी त्याज्य है। ये संदेश भी उनसे मिलता है। पूर्ण बहिष्कार की प्रेरणा इसमें नहीं है, क्योंकि उपाध्याय की स्तुति करते हुए लिख जाता है स्वमत-परमत के ज्ञाता। परमत का परिचय नहीं हो तो उपाध्याय का गौरव नहीं बनता। यदि परमत का परिचय सम्यक्त्व का दोष होता तो कोई साधु क्यों अन्य मत का अध्ययन करता और उस अध्ययन के बिना कैसे वह उपाध्याय पद का अधिकारी बनता।

प्रश्न 22 : जैन दर्शनानुसार मनुष्यायु की क्या व्यवस्था है, आयु Fix है या घटाई-बढ़ाई भी जा सकती है? अकाल मृत्यु जैसी कोई चीज है या नहीं?

उत्तर—जीवात्मा दो प्रकार के शरीरों में जीवन यात्रा सम्पन्न करती है, देव नरक गति के जीव वैक्रिय शरीर में, मनुष्य, तिर्यंच गति के जीव औदारिक शरीर में। वैक्रिय शरीर में आयुष् कर्म पर बाहरी निमित्तों का प्रभाव नहीं पड़ता, औदारिक शरीरवर्ती आयुष्य कर्म पर पड़ता है। चूँकिं बाहरी निमित्त औदारिक शरीर को प्रभावित करते हैं; अतः उस शरीर में स्थित आयु कर्म को भी प्रभावित करते हैं, ऐसी प्रभावित होने वाली आयु को ''अपवर्तनीय''

कहा जाता है, न प्रभावित होने वाली आयु अनपवर्तनीय कहलाती है, अपवर्तनीय आयु अपवर्तित हो जाए तो साधारण भाषा में 'अकाल मृत्यु' कही जाती है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जैन सिद्धान्त में अकाल मृत्यु स्वीकृत है। एक अन्तर अवश्य है कि अकाल मृत्यु कहने वालों की धारणा होती है कि मरने वाले की आयु बाकी है और मृत आत्मा बकाया काल तक अशरीर अवस्था में भटकती रहती है, जबकि जैन मान्यता है कि शरीर त्याग से पूर्व आयु के सभी पुद्गल भोग लिये जाते हैं, नये आयु पुद्गल ग्रहण हो चुके होते हैं और मरने के तुरन्त बाद नये शरीर में जन्म हो जाता है।

जैन मान्यता है कि आयु कर्म की उद्वर्तना (बढ़ोतरी) नहीं होती, अपवर्तना (न्युनता) होती है। शेष सात कर्मों पर दोनों ही करण "प्रक्रिया" लागू होती हैं औदारिक शरीर में आयु की अपवर्तना के कुछ अपवाद भी हैं, असंख्य वर्ष की आयु वाले, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव जैसे उत्तम पुरुषों की आयु अपवर्तित नहीं होती, चरम शरीरी मनुष्यों के सम्बन्ध में अपवर्तना को लेकर आगम और तत्वार्थ में मतभेद प्रतीत होता है, आगम उनकी अपवर्तना के पक्षधर हैं, जैसे गजसुकुमाल का प्रसंग, तत्वार्थ में निषेध है, मुझे आगम अधिक सही प्रतीत हो रहा है।

प्रश्न 23 : श्वास से आयु का क्या संबंध है? तेजी से श्वास लेना क्या आयु कर्म की स्थिति को प्रभावित करता है?

उत्तर- आगम के अनुसार आयु का श्वास से बहुत अधिक संबंध तो नहीं है परंतु दोनों प्राण आपस में साथ-साथ उल्लिखित हैं; अतः श्वासोच्छ्वास बलप्राण क्षीण हो जाए तो अंततः आयुषबलप्राण भी क्षीण हो जाता है। जिन जीवों को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण नहीं मिलती वे तुरंत काल कर जाते हैं। पर ये नहीं कहा जा सकता कि अकाल मृत्यु के समय जीव अपने सांस जल्दी-जल्दी ले कर सांसों की गिनती पूरी कर लेता है। आयुष कर्म तो तुरंत सबका खप सकता है पर सांसों की संख्या पूरी करना जैन सिद्धांत सम्मत

नहीं है। हाँ, एक बात है कि समुचित विधि से श्वास लिया जाए तो फेफड़े, हृदय, रक्त संचार, स्वस्थ रहते हैं और दीर्घकाल तक जी सकता है तथा जिससे आयुष कर्म के परमाणुओं की खपत थोड़ी होगी और देर तक काम देते रहेंगे।

प्रश्न 24 : चरमशरीरी जीवों की आयु क्या निरूपक्रमी होती है?

उत्तर- मूल आगमों मे ऐसा कोई पाठ देखने में नहीं आता कि चरम शरीरी जीवों की आयु निरूपक्रमी होती हो, तत्त्वार्थसूत्र, ठाणांगवृत्ति, एकाध टीका में अवश्य है पर उन्हें प्रमाणभूत नहीं कह सकते।

गजसुकुमाल, मेतार्य, स्कन्दक के 500 मुनि जिन्हें घाणी में पीला गया था, ये प्रसंग यही साबित करते हैं कि इन महापुरुषों का देहतंत्र बाह्य निमित्तों से प्रभावित हुआ था। गजसुकुमाल जी के संबंध में प्रभु अरिष्टनेमि ने स्पष्ट किया कि जैसे श्रीकृष्ण ने बूढ़े की 'ईंटे उठवाने में मदद की, ऐसे ही सोमिल ने गजसुकुमाल के प्रसंग में की। जो कर्म देर से खपते, उन्हें जल्दी खपवा दिया, यही अपवर्तना है। यदि शेष कर्मों की अपवर्तना हुई है तो आयु की भी मान्य होनी चाहिए।

दूसरा तर्क- सोमिल ब्राह्मण को प्राणातिपातिकी क्रिया लगने की मान्यता है, उसने यदि प्राणातिपात किया तभी तो ये क्रिया लगेगी। यदि गजसुकुमाल जी की आयु इतनी ही होती तो उसे हत्या का अपराधी नहीं माना जाना चाहिए। भगवान अरिष्टनेमि ने ये नहीं कहा कि गजसुकुमाल की इतनी ही आयु थी अतः सोमिल बेकसूर है। **'अकाले चेव जीवियाओ ववरोविए'** इस बात का खण्डन कहीं भी नहीं किया। वैसे तो औदारिक शरीर की बनावट ही ऐसी है कि वह निमित्तों से प्रभावित होता ही है पर कुछ स्थितियाँ और व्यक्ति ऐसे होते हैं कि वहां निमित्त नहीं मिलते प्रथम-द्वितीय-तृतीय आरा, तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि। परन्तु चरमशरीरी इस श्रेणी में नहीं आते, ऐसा ध्यान में आया है।

प्रश्न 25 : जिन वस्तुओं का हम प्रयोग नहीं कर रहे, मात्र पच्चक्खाण न लेने से क्या कर्मबंध की सम्भावना है, जैसे कि अधिकतर साधु-साध्वी प्ररूपणा करते हैं?

उत्तर- कर्मबंध और क्रिया के मध्य भिन्नता न समझ पाने के कारण प्रत्याख्यान विषयक विसंगतियाँ तैयार हो गईं। सर्वप्रथम ध्यान रखना है कि किसी वस्तु के कारण न कर्मबंध होता है, न रुकता है। योग से और कषायों से कर्मबंध होता है तथा अयोग से या शुभ योग से तथा अकषाय या कषाय अल्पीकरण से कर्मबंध रुकता है। यदि कोई वस्तु, स्थान, समय, व्यक्ति या घटना योग और कषायों को बढ़ा रहे हैं तो कर्मबंध हो रहा है अथवा भविष्य में बढ़ाने की सम्भावना बनती है तो भी स्वयं को उससे पृथक कर लो, छुटकारा पा लो।

यदि वे वर्तमान में योग कषाय वृद्धि नहीं कर रहे तो कर्मबंध भी नहीं करवा रहे हैं। भविष्य का पता नहीं वे कर्मबंध करवाएँ या ना करवाएँ, परन्तु वर्तमान में तो निश्चित रूप से भविष्यकाल के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कर्मबंध नहीं करवाते हैं, क्योंकि वे हैं ही नहीं तथा उनसे हमारा संबंध भी नहीं है। यदि वर्तमान काल में वे सब हैं, पर हमसे सम्बद्ध नहीं हैं तो कर्मबंध नहीं करवा रहे हैं अर्थात् कर्मबंध नहीं हो रहा। अत: प्रयुज्यमान (प्रयोग कर रहे) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आगार, अप्रयुज्यमान (प्रयोग नहीं कर रहे) का प्रत्याख्यान एक उपहासस्पद सी प्रक्रिया लगती है।[1]

प्रश्न 26 : पुण्य और संवर क्या धर्म के ही पहलू हैं या विरोधी तत्व है?

उत्तर- पुण्य एक सकारात्मक धर्म का वाचक है- संवर नकारात्मक धर्म का। अच्छाई की ओर बढ़ना पुण्य है, बुराई से पीछे हटना संवर है, पुण्य के अभाव में संवर चिरकालिक नहीं रह सकता क्योंकि बुराई से हटने पर भी जीव को गति करने के लिए खुला मैदान भी तो चाहिए। वह शून्य में नहीं जी सकता। इसलिए भगवन्तों ने पहले Posititive बातें बताकर फिर Negative ढंग से धर्माराधना की विधि बताई है। अच्छे कार्य करने से बुरे

कार्यों से हटने में सहूलियत रहती है। ये दोनों धर्म परस्पर परिपूरक हैं, विरोधी नहीं। ये बात अलग है कि साधु जीवन निवृत्तिप्रधान होने से संवर की आराधना के अधिक अनुकूल होता है जबकि गृहस्थ जीवन अपनी प्रवृत्ति-प्रधानता के कारण पुण्याराधक अधिक होता है। साधु पुण्य को छोड़ता नहीं है तो श्रावक संवर का अल्प सेवन करता है। दोनों ही धर्म के अंग हैं तथा दोनों (साधु-गृहस्थ) के लिए उपादेय हैं, हेय बिल्कुल नहीं है। यह एक भ्रान्ति है कि पुण्य ज्ञेय है उपादेय नहीं, बिना आगमिक प्रमाण के ये भ्रान्ति प्रसृत हुई है। पुण्य को सोने की बेड़ी कहना नितान्त गलत है यह तो सोने का आभूषण है।

मुनि भी अपने गुरुजनों की, साधार्मिकों की, आहार पानी आदि द्वारा सेवा करता है, जिस विधि से वह अपना आहार-पानी, मकान-वस्त्रादि ग्रहण कर सकता है उसी विधि से अपने सहवर्तियों की वैयावृत्य करता है। गृहस्थ भी अपनी सीमा में निराश्रित मानवों, तिर्यंचों का भी पालन पोषण करता है।

42 पुण्यप्रकृतियों के बन्ध में जो-जो उपाय सहायक होते हैं वे सभी पुण्यानुबंधी होने से पुण्य रूप होते हैं। दर्शन विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शील-व्रतों का निरतिचार पालन, त्याग-तपस्या इत्यादि प्रत्येक कार्य पुण्यरूप है। पुण्य को प्रकारान्तर से संवर और निर्जरा भी कह सकते हैं तथा संवर को पुण्य तथा निर्जरा। हां, निर्जरा को भी पुण्य और संवर कहा जा सकता है। जब कोई व्यक्ति धनदान से किसी का कष्ट निवारण करता है तब वह साता वेदनीय का बन्ध करता है, धन की ममता (लोभ) का विसर्जन करके निर्जरा करता है तथा अपने मन, वचन, काया को शुभयोग में लगा संवर का कार्य संपादन करता है। धर्म के एक पहलू को दूसरे से पृथक् करके देखने की प्रवृत्ति जैनों के अनेकान्तिक चिन्तन के विपरीत है। यहां तो नित्यता-अनित्यता, सत्ता-असत्ता, सामान्य-विशेष, वाच्यता-अवाच्यता आदि विरोधी प्रतीत होने वाले वस्तुधर्मों को भी सर्वथा भिन्न नहीं मानकर एक-दूसरे का सहायक माना है फिर संवर निर्जरा पुण्य को अलग-अलग कैसे कह सकते हैं। सूत्रकृतांग सूत्र की कुछ

गाथाओं को आधार बनाकर तेरापंथ के प्रारम्भिक आचार्यों द्वारा जरूर कोशिश की गई कि पुण्य और संवर को विरोधी खेमों में डाल दें पर ये उनका दुष्प्रयास था।

साधु महाराज दान का निषेध तो करता ही नहीं, क्योंकि उससे कितने ही प्राणियों की रक्षा होती है। हां, प्रशंसा करने में संकोच इसलिए करता है कि कहीं इस प्रक्रिया में सूक्ष्मजीव (एकेन्द्रियादि) न मर जाएं। उनकी हिंसा का अनुमोदन न हो जाए। इस त्रिकरण शुद्धि के लिए वह कभी-कभी वाणी का संयम अपना लेता है। ये व्रत रक्षा का मसला है न कि उस क्रिया का विरोध। भगवान महावीर की प्ररूपणा में सेवा-परोपकार भी धर्म है, सामायिक संवर भी। जिस क्रिया से मन एकाग्र हो, भावना शुद्धि हो, करुणावृद्धि हो, सृष्टि में सुख शान्ति बढ़े वहीं क्रिया धर्म है। जिस व्यक्ति को जो विधि अनुकूल लगे अपना सकता है।

प्रश्न 27 : व्यवहार राशि तथा अव्यवहार राशि की मान्यता के पीछे आगम की क्या दृष्टि है?

उत्तर- जैनों के अलावा सभी दर्शनों ने विश्व की शुरुआत मानी है। ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया। ये बात लगभग सभी धर्म मानते हैं। विज्ञान भी कुछ-कुछ भिन्न ढंग से सृष्टि की उत्पत्ति मानता ही है, Big Bang की Theory के अनुसार सृष्टि में महाविस्फोट हुआ, उससे ग्रह आदि का निर्माण हुआ, वह जीवन की शुरुआत कुछ अरब साल पहले मानता है, परन्तु जैन धर्म ने न तो जीवन की आदि मानी, न किसी गति जाति का प्रारम्भ माना।

प्रज्ञापना सूत्र में पूछा गया कि हे भगवन् क्या नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव इन चार गतियों में विद्यमान जो जीव हैं, उनमें से कोई जीव प्रथम बार यहाँ आया है? तब भगवान ने फरमाया कि इस समय कोई भी ऐसा नहीं है (पहले भी कभी नहीं रहा) जो पहली बार मनुष्यादि रूपों में जन्मा हो, वहाँ वह एक दो बार ही नहीं, अनंत बार आ चुका है। यदि अव्यवहार राशि की

मान्यता सही माने तो कोई एक जीव अर्जुनमाली के निर्वाण होते ही अनादि निगोद से निकलकर पहली बार मनुष्य बना होगा। ऐसे असंख्य, अनंत जीव मानने पड़ेंगे, जो अनन्तसिद्धों के स्थान पर इन चार गतियों में पहली बार आये होंगे। भगवान तो कहते हैं कि एक भी जीव ऐसा नहीं है जो पहली बार इन गतियों में आया हो, जबकि व्यवहार-अव्यवहार राशि की मान्यतानुसार अनन्तानंत जीव इन गतियों में प्रथम बार आये हुए सिद्ध होते हैं, अत: यह मान्यता आगमिक नहीं लगती।

अगली बात—एक आत्मा ने अपने घाति-अघाति कर्म नष्ट करके मुक्ति पाई, उसका लाभ उस निगोदवर्ती जीव को क्यों मिला, जो तुरन्त वहाँ से निकलकर अन्य गति में आ गया। उसने ऐसा क्या शुभ कार्य किया जो अनन्त अज्ञानकारा से निकलकर बाहर आया, अन्य की करनी का फल पाना आगमानुकूल नहीं है और भी अनेक उलझनें व्यवहार-अव्यवहार राशि को मानने से तैयार होती हैं, जिनका समाधान कोई नहीं दे सकता। किसी ने कह दिया कि अव्यवहार राशि में अभव्य जीव होते ही नहीं, मात्र भव्य होते हैं। किसी ने दोनों प्रकार के माने, किसी ने कहा—वहाँ दोनों प्रकार के होते हैं पर वहाँ से निकलते केवल भव्य ही हैं। कोई कहता है दोनों तरह के निकलते हैं, यदि दोनों तरह के निकलते हैं तो एक दिन ऐसा आएगा अभव्य जीव भव्यों से अनन्त गुना ज्यादा हो जाएँगे, जबकि आगम कहते हैं कि भव्य जीव अभव्यों से अनन्त गुना ज्यादा होते हैं।

कुछ कहते हैं कि अव्यवहार राशि से निकलकर जीव अनन्तकाल संसार में भटकता है। किसी ने कहा कि मरुदेवी का जीव पहली बार अनादि निगोद से निकला था तथा उसी रूप में मोक्ष चला गया, इत्यादि ढेरों मान्यताएँ मनघड़ंत सी लगती हैं; अत: जिस मान्यता का कोई आगमीय आधार ही नहीं, उस मान्यता को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। असली बात ये है कि किसी भी आगम में ऐसा पाठ नहीं है, जहाँ लिखा हो, राशि दो प्रकार की होती हैं—व्यवहार और अव्यवहार।[2]

प्रश्न 28 : जज फांसी की सजा देता है, राष्ट्रपति उसकी अपील ठुकरा देता है, जल्लाद फांसी पर लटका देता है, तो उस पंचेन्द्रिय वध का पाप किसको लगता है?

उत्तर- भगवान महावीर स्वामी ने हिंसा, अहिंसा की सूक्ष्म और विस्तृत व्याख्या की है, जितनी पालन के लिए निष्ठा है उतनी ही छूटें भी हैं। गृहस्थ की पहली छूट स्थावर हिंसा, दूसरी त्रस की आरंभजन्य, तीसरी संकल्प-जन्य भी अपराधी की हिंसा, चौथी अपराधों से जुड़े निरपराध की हिंसा। जज, जल्लाद या राष्ट्रीय अध्यक्ष का अपराधी से सीधा द्वेष भाव नहीं हैं, वे केवल कानून का पालन कर रहे हैं, करवा रहे हैं। उन्होंने किसी को एकदम अपराधी घोषित नहीं किया। उसे अपने पक्ष को प्रस्तुत करने का मौका दिया गया। फिर भी अपराध ही साबित हुआ। उसे गलती स्वीकार करके, पश्चाताप करने की अनुमति भी थी, वह करता तो उसकी सजा कम की जा सकती थी, पर वह अड़ा रहा तो ऐसा अपराधी बाहर आकर समाज का अधिक अहित कर देगा, इस ध्येय से उसे मृत्यु दण्ड दिया। जिस तरह उसने निर्दोषों को इरादतन मारा था, उस तरह इन तीनों व्यक्तियों ने किसी निर्दोष को इरादतन नहीं मारा। वह उस प्रक्रिया से मरा है पर उसे किसी ने मारा नहीं है। तीनों संबद्ध व्यक्ति पंचेन्द्रिय वध के पापी नहीं होने चाहिए। वे तो पंचेन्द्रिय वध रोकने में मदद कर रहे हैं। समाज ने जो दायित्व उन्हें दिया है उसे पूरा कर रहे हैं। आगम की दृष्टि से वे कर्म बंध के अधिकारी नहीं है। हाँ, मृत्युदण्ड की समाप्ति आज के चिंतक चाहते हैं, वह और बड़ी अहिंसा होगी। श्रावक व्रतों को ध्यान में रखकर ये चिंतन दिया गया है। हाँ, यदि कषायों का उद्‌भव हो रहा हो, तो उतनी ही मात्रा में कर्मबंध तो होगा ही। अपराध, निपराध शब्द कानून और नियमों की परिधि में आते हैं जबकि कर्मबंध योग और कषायों की तरतमता पर निर्भर करते हैं। चेटक-कोणिक युद्ध में एक दो अपवादों को छोड़कर सभी नरक तिर्यंच में गए उन गतियों में जाना उनका मानसिक Involvement के कारण हुआ। दो पहलुओं से इस

विषय को समझे तो उचित रहेगा। हर व्यक्ति समान रूप से पाप का भागी नहीं होता, ये भी ध्यान रखना है।

प्रश्न 29 : अखबार अक्षरश्रुत से भरपूर है, क्या इसका प्रयोग अन्य कार्यों के लिए किया जाना ज्ञान की आशातना है?

उत्तर- अक्षरश्रुत के तीन भेद हैं, संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर, लब्ध्यक्षर, जिनमें प्रथम दो द्रव्य रूप होते हैं तथा तृतीय भाव रूप। द्रव्य का जैन शासन में महत्व तो है पर अधिक नहीं। भाव का मूल्य सर्वाधिक है, द्रव्य का उतना ही मूल्य है जितना वह भाव को सुरक्षित रखता है। कागज पर लिखित अक्षर संज्ञाक्षर है लब्ध्यक्षर नहीं, अक्षरों के कारण भाव श्रुत की उपलब्धि हो जाती है। इस दृष्टि से अक्षरों की सुरक्षा की जाती है। वे स्वयं में पावन नहीं है संरक्षणीय हो सकते हैं। हम अक्षरों की पावनता और संरक्षणीयता की भेदरेखा को भुला देते हैं और इस कारण भ्रांतियों का जन्म होता है। अखबार आदि के अक्षरों के संबंध में भी यही घटित हुआ है, जैन धर्म के आगमों के लिपिकरण के बाद उनकी सुरक्षा को बढ़ावा देने के लिए द्रव्याक्षरों को बढ़ा-चढ़ाकर महत्व दिया गया, उनकी आशातना और क्षति से बचने के उपाय किए गए किन्तु हर द्रव्य की एक सीमा है, वे कागज पत्र गले भी, खण्डित भी हुए, उन्हें परठा भी गया। जब आगम भी खण्डित, परिष्ठापित किए जा सकते हैं तो अन्य ग्रंथों को कितना महत्व दिया जाता?

प्रकाशन युग के आने पर सारी धारणाएं ही परिवर्तित हुई, कितना ही पवित्र ग्रंथ क्यों न हो उसके मुद्रण, Binding, प्रेषण आदि में पवित्रता की सुरक्षा रह ही नहीं सकती, हाथ, पैर आदि का प्रयोग होगा, उन्हें काटा जायेगा, अतिरिक्त भाग को Dump किया जायेगा। अनबिके ग्रंथों को रद्दी में डाला जायेगा। पढ़ने के बाद अनुपयोगी होने पर उसको विसर्जित भी किया जाएगा। जो भी वस्तु बहुलमात्रा में बाजार में आती है उसका उतना ही निरादर होगा, अखबार के कागज सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं अतः सर्वाधिक उनका दुरुपयोग होता है अथवा यूं कहें कि सर्वाधिक

विधियों से उनका उपयोग होता है। उसके लिफाफे बने या फर्श पर बिछाया जाए या ऐसे अन्य कार्यों में प्रयुक्त हो तो आशातना नहीं होगी।
इतना ही ध्यान रहे कि जिन आगमों का प्रयोग संभव है उनके पृष्ठों की सुरक्षा करते रहें।

प्रश्न 30 : ओसिया नगरी व ओसवाल कब से हैं? सारी नगरी व सभी जातियाँ जैन बनी या कुछेक वर्ग?

उत्तर- भगवान महावीर के युग में भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा के बहुत साधु-साध्वी अंतिम तीर्थंकर की परंपरा में सम्मिलित हो गए थे पर सभी नहीं। कितने ही साधु-साध्वी प्रभु पार्श्व की परंपरा को नहीं छोड़ सकते थे, उन्होंने अपनी प्राचीन व्यवस्था में ही लाभ माना हो या अपनी मान्यताओं को बदलना बेवफाई लगी हो, कुछ भी रहा हो पर प्रभु पार्श्व की परम्परा चालू ही रही और मन्त्र तन्त्र आदि में अधिक रूचि रखने के कारण सामान्य जनता में उनकी पैठ भी रही। उसी परंपरा के आचार्य श्री रत्नप्रभ सूरि ने ओसवालों का निर्माण किया। एक पुस्तक में पढ़ा था कि आजकल भी एक मुनिसंघ स्वयं को प्रभु पार्श्व का वंशज मानता है, उनकी पट्टावली अपनी पट्टावलियों से भिन्न है।
ओसिया नगरी की समग्र जनता ने ही जैन धर्म अपनाया था, न कि ब्राह्मण और क्षत्रियों ने, जैसा कि आज इनके गोत्रों से स्पष्ट है। चण्डालिया, सांड, चौरड़िया, कटारिया, गधैया आदि गोत्रों का मूल शब्द उनके व्यवसाय आदि को सूचित करता है तथा ओसवालों के गोत्र आज भी जैनेतर जातियों में खूब पाए जाते हैं जो कि ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं है। जिन्हें कुछ Superierity Complex ज्यादा सताने लगा, उन लोगों ने ब्राह्मण-क्षत्रिय का नारा उछाल दिया। अन्यथा जैन धर्म ने कभी जातिवाद का समर्थन नहीं किया और धर्मान्तरण करने वाले धर्मगुरु इस चिंतन वाले हों तो वे कभी बड़ा काम कर ही नहीं सकते। बड़ा धर्म परिवर्तन जब कभी कहीं होगा, सर्वग्राही ही होगा, सम्भ्रान्त वर्ग तक सीमित नहीं रह सकता।

प्रश्न 31 : मांसाहार और चमड़े की चीजें प्रयोग करने वालों को क्या एक श्रेणी में रखना चाहिए?

उत्तर- किसी एक सिद्धांत की प्रतिपादना के समय वक्ता का मानस इतना केंद्रित हो जाता है कि उसके सामने अन्य सभी सिद्धांत गौण हो जाते हैं। जैनाचार्यो का एक वर्ग जब रात्रि भोजन निषेध के लिए कटिबद्ध हुआ तो उसने भाषा की सारी सीमाएं लांघ दी, तथा मनुस्मृति के श्लोक उद्धत कर रात्रि भोजन को मांसाहार तथा रात्रि के पानी को रक्तपान कहना प्रारंभ कर दिया।

किसी-किसी ने मत्स्य व्यापार, दुराचार, वनदहन आदि से भी भंयकर रात्रिभोजन को करार कर दिया। एक पक्ष के मण्डन का आग्रही दृष्टिकोण जमींकद के मामले में भी उभरा, और इसके प्रयोग को नरकगति का कारण बना दिया गया। चमड़े के मामले में भी ऐसा ही हुआ प्रतीत होता है। पुराने युग में तो जूता मृतपशु की खाल से ही बनता था अतः जूते के निमित्त पशुहत्या नहीं होती थी, वैदिक ऋषि मृगचर्म पहनते और बिछाते थे, जैन मुनि भी आपत्काल में चर्म के टुकड़े ले लेते थे। परन्तु नए काल में जीवित पशु को बूचड़खानों में मारकर उनकी खाल उतारी जाती है तथा उस खाल से जूते आदि उपकरण बनते हैं।

यद्यपि इस प्रक्रिया में पशु हत्या साफ-साफ दिखाई दे रही है पर, एक अन्तर है कि पशुओं का वध केवल चमड़े के लिए नहीं किया जाता, प्रथम और मुख्य लक्ष्य मांस प्राप्ति ही होता है, हां शेष अवयवों का भी उपयोग आजकल उद्योगों में किया जाता है, हड्डी, वसा, आंते, चमड़ी तथा अन्य अवयवों को Waste नहीं होने दिया जाता। तभी उनकी Production cost निकल पाती है तथा मुनाफा कमाया जाता है। जैसे धान के सैलरों का मुख्य उत्पाद चावल होता है। उपउत्पाद के रूप में भूसी, Bran किणकी आदि भी बेचे जाते हैं। शुगर मिलों में गन्ने का रस निकालकर, चीनी बनाई जाती है पर सहवर्ती अनेक तत्व और तैयार किये जाते हैं। ऐसे ही बूचड़खाने में चमड़े को सहवर्ती उत्पाद By product के रूप में लिया जाता है। इसलिए चमड़े के प्रयोग को वर्जनीय मानते हुए भी मांसाहार के तुल्य नहीं मानना चाहिए।

प्रश्न 32 : 'समय से पहले भाग्य से ज्यादा किसी को कुछ नहीं मिलता' ये वाक्य सिद्धांत के अनुकूल है या प्रतिकूल?

उत्तर- अनेकांतवादी जैन दर्शन में कोई भी प्रतिपादन सापेक्ष रूप से सत्य होता है, निरपेक्ष रूप से नहीं। समय और भाग्य की वास्तविकता भी सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। फिर भी मुख्य सिद्धांत के तौर पर जैन दर्शन पुरुषार्थवादी और उपर्युक्त वाक्य पुरुषार्थ विरोधी है अत: जैन दर्शन इस वाक्य को अपना Slogan नहीं बना सकता। हाँ, यदा कदा जनसामान्य को संतोष-सब्र की शिक्षा देने के लिए इसे उद्धृत किया जा सकता है।

जैन दर्शन ने पांच अस्तिकाय माने हैं, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि। उनमें काल अस्तिकाय नहीं हैं, कुछ आचार्यों ने तो इसका अस्तित्व ही नहीं माना। उनके अनुसार काल जीव अजीव की पर्याय मात्र है स्वतन्त्र तत्व नहीं है। यदि कुछ आचार्यों ने काल को स्वतन्त्र तत्व माना भी है तो अस्तिकाय (प्रदेश-समूह) न मानकर बिखरे-बिखरे प्रदेशों के रूप में स्वीकार किया है, सूर्य-चन्द्रमा की गति को आधार बनाकर काल को ढाई द्वीपवर्ती घोषित करके इसकी सर्वव्यापकता को भी अस्वीकार किया गया है। एक निर्जीव तत्व को इतना महत्व देना जैन धर्म को मान्य नहीं है। ये ठीक है कि कारण को कार्यरूप में परिणत होने में कुछ व्यवधान-अन्तराल की आवश्यकता पड़ती है जैसे मिट्टी को घड़ा बनने में कुछ समय तो अवश्य चाहिए पर ऐसा नहीं कि हर कुंभ को समान समय ही अपेक्षित होता है। कोई अशिक्षित कुंभकार एक घड़े के निर्माण में 24 घण्टे लगाता है तो प्रशिक्षित कुंभकार एक घण्टे में वह कार्य सम्पन्न कर देता है। पूर्वकाल में जो क्षेत्रीय दूरियां महीनों में तय होती थीं, आधुनिक युग में द्रुतगामी साधनों से दिनों में तय हो रही है अत: समय से पहले वाक्य का कोई निश्चित अर्थ समझ में नहीं आता। समय का निर्धारण होने के बाद ही यह जाना जाएगा कि यह कार्य समय से पूर्व हुआ है या निर्धारित समय पर हुआ है। इस निर्धारण के बिना इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं निकलता। जैन कर्म सिद्धांत में 'उदीरणा करण' का बहुमूल्य सिद्धांत भी इस वाक्य को निरस्त करता है। जिन कर्मों

का उदय काल अभी प्राप्त नहीं हुआ है उन्हें जिस प्रयत्न से उदय में लाकर क्षीण किया जाता है उस प्रयत्न को उदीरणा कहते हैं तथा उदीरणा एक अनवरत प्रक्रिया है, अर्थात् कर्मों को समय से पहले भोगा जा रहा है तथा आगे भी जारी रहेगा। 'स्थिति घात' नामक प्रक्रिया से कर्मों की दीर्घकालीन स्थिति को अल्प स्थितिक बनाया जा सकता है। ये सिद्धांत भी कालवादियों के विरुद्ध है।

काल के समर्थन में बस एक दो बातें ही व्यवहार और निश्चय जगत् में उपलब्ध हैं। पहली जैसे अपने-अपने मौसम के अनुसार फसलें पकती हैं, बेमौसम असमय में फसल अनुकूल फल नहीं देती तथा उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के निश्चित आरों में ही तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि होते हैं, अन्य आरों में नहीं। ऐसी घटनाओं के अतिरिक्त काल की मान्यता असंगत सी प्रतीत होती है।

भाग्य के विषय में भी लगभग यही धारणा बनती है। सर्वप्रथम तो भाग्य का अर्थ ही निर्णीत नहीं है, अर्थ निर्णय के बिना उसके अल्प बहुत्व की चर्चा भी निरर्थक रहेगी, साधारणतः पूर्वजन्म में बंधे हुए कर्मों को भाग्य माना जाता है। तथा कर्मों का जितना विशद विश्लेषण जैन दर्शन में है उसके अनुसार भाग्य का प्रभाव जीवन में बहुत थोड़ा है क्योंकि बांधे हुए अधिकांश कर्म तो प्रदेशोदय द्वारा नष्ट हो जाते हैं। बचे हुए कर्मों में से काफी कर्मों का स्थितिघात, रसघात भी हो जाता है। शेष कुछ कर्म गुण संक्रमण के द्वारा स्वरूप बदल लेते हैं। इस तरह और भी कई प्रक्रियाएं हैं जिनमें से पूर्वबद्ध कर्म गुजरते हैं और भाग्य की निश्चितता खण्डित होती रहती है। संभवतः निर्धारित कर्म समग्र कर्मों की राशि का एक दो प्रतिशत मात्र होते हैं, वे सामान्य नियम के रूप में नहीं अपितु अपवाद रूप में ही माने जाते हैं, लेकिन अपवादों की पुनः-पुनः चर्चा होने से लगता है कि वे सामान्य नियम हैं। इसी कारण भाग्य का चिन्तन जन मानस में हावी हो जाता है। यदि भाग्य शब्द को व्याकरण के अनुसार समझे तो इसका भाव बनता है 'हिस्सा'। जिस परिवार समाज के अंग के रूप में हिस्से के रूप में

एक व्यक्ति जन्मा है, जी रहा है, उसकी हर अच्छाई और बुराई उसे मिलती है। उदाहरणार्थः-एक बालक समृद्ध कुल में जन्मा उस कुल की संपत्ति का कुछ भाग उसे मिलता है, ये उसका भाग्य है, यदि किसी निर्धन कुल में जन्म लेता है तो उसे कर्ज का भाग (हिस्सा) भी मिलता है, ये उसका भाग्य है, हर देश समाज की अच्छी बुरी परिस्थिति का अंश व्यक्ति को उपलब्ध होता है, उसको भी उनके प्रति अंशदान करना होता है, ये सब भाग्य कहलाते हैं। इस तरह के भाग्य का परिवर्तन भी पुरुषार्थ द्वारा संभव है। 'भाग्य में कितना है' ये निश्चित ज्ञान होने के बाद ही सिद्ध किया जा सकेगा कि इससे अधिक मिला या नहीं। बिना निश्चित घोषणा के इस कथन का कोई अर्थ नहीं निकलता।[3]

प्रश्न 33 : किसी की दीक्षा पर्याय 10 वर्ष है, 10 वर्ष पूर्णता वाला दीक्षा दिवस दसवाँ है या ग्यारहवाँ?

उत्तर—जन्मदिवस, दीक्षा दिवस, पुण्यदिवस मनाने का आयोजन एक साल बाद होता है, वही प्रथम जन्मदिवस, दीक्षा दिवस तथा पुण्य दिवस है। यद्यपि कहीं-कहीं जिस दिन किसी बालक ने जन्म लिया, किसी मुमुक्षु ने दीक्षा ली, कोई पुण्यात्मा दिवंगत हुई, उसी दिन को पहला दिन गिनने की, मानने की मान्यता सुनने में आई थी। पर वह जन्म महोत्सव, दीक्षा महोत्सव, निर्वाण महोत्सव कहला सकता है, जन्म दिवस महोत्सव , दीक्षा दिवस महोत्सव, पुण्य दिवस महोत्सव नहीं। दिवस को Celebrate करना हो तो एक वर्ष की प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी, ऐसी परम्परा ठीक लगती है। बाकी जैसा जिसको उचित लगे।

❀ ❀ ❀

1. प्रस्तुत विषय में बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित लेख 'क्रिया' विशेष पठनीय हैं।
2. प्रस्तुत विषय में पं० रत्न श्री दिनेश मुनि जी द्वारा लिखित लेख 'अव्यवहार राशि की मान्यता क्या आगम विरुद्ध नहीं है' पठनीय है।
3. प्रस्तुत विषय में बहुश्रुत गुरुदेव द्वारा लिखित लेख 'भाग्यवाद बनाम पुरुषार्थवाद' विशेष पठनीय है।

“जिज्ञासारूपी प्यास का परिणाम है
प्रस्तुत कृति!
समाधानरूपी स्वच्छ, विशुद्ध, पोषणदायक
जल से प्राप्त तृप्ति का अहसास है
प्रस्तुत कृति!”

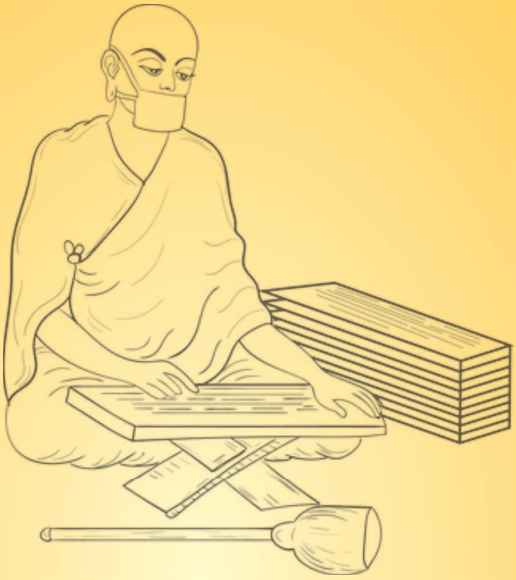

सम्भव है समाधान !
यदि दृष्टि सत्यान्वेषी हो, अनाग्रही एवं उदार हो;
अतः धर्म एवं परम्पराओं की
सही समझ के लिए अवश्य पढ़िए—
प्रस्तुत कृति 'छिन्नो मे संसओ इमो'।

जय जिनशासन प्रकाशन